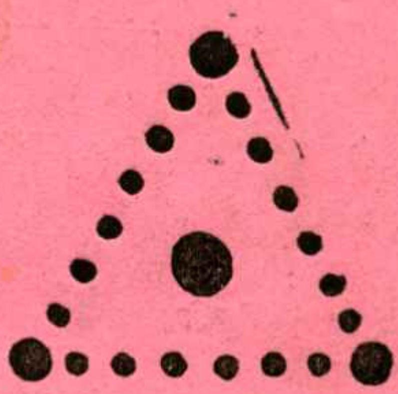
॥ श्रीः ॥

महानुभवशक्तिस्तवः

(हिन्दी टीका युतः)



प्रणेता—**सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-श्रीमद्-अमृतवाग्भवाचार्यः ।**

टीकाकारो—**डा० बलजिन्नाथपण्डितः ।**

प्रकाशक :

श्रीपीठं सैद्ध-दर्शन-शोध-संस्थानं, जम्मू ।

श्रीमदमृतग्रन्थमालायास्त्रयोदशं पुष्पम् ।
संवत् २०४३ वि०, सन् १९८६ ई०

प्रकाशक—श्रीपीठ, संद्धदर्शन शोध संस्थान, जम्मू।

प्रथम संस्करण—२०४२ वि. (१९८६ ई०)

१००० प्रतियां

मूल्य—१० रुपये।

मुद्रक—एस० एन० मगोत्रा प्रिंटिंग प्रेस, जम्मू।

SRI

MAHANUBHAVA = SAKTISTAVA

With

a Commentary in Hindi

Author:

ACARYA AMRTAVAGBHAVA

Commentator:

Dr. B. N. PANDIT

Sri Pitha-Sodha-Samsthana

JAMMU.

प्रास्ताविकम्

●

महानुभवशक्तिस्तव के द्वारा भगवती-राज-राजेश्वरी पराशक्ति की स्तुति उसके पांच अन्तरङ्ग स्वरूपों को लेकर के की गई है। स्तोत्रकार हैं पूज्यपाद श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य महोदय। उन्हें भगवान् दुर्वासा के अनुग्रह से उत्कृष्टतर शाम्भवी योगविद्या मिली थी। उसके अभ्यास से उन्हें परा देवी के पांच अन्तरङ्ग स्वरूपों का जो अपूर्व और अतीव उत्कृष्ट अनुभव हो चुका था उसी के आधार पर उन्होंने इस स्तोत्र में जगदम्बा के उन पांचों ही स्वरूपों की स्तुति करते हुए उनके रहस्यात्मक स्वभावों पर भी ज़रा-ज़रा प्रकाश डाला।

इस स्तोत्र का निर्माण सन् १९३६ ई० में हुआ। स्तोत्र के मूल संस्कृत श्लोक पहली बार "श्रीस्वाध्याय" नामक त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुए। वह पत्रिका सोलन से बारह वर्ष चलती

रही। उसका सञ्चालन पूज्यपाद श्री आचार्य जी के द्वारा स्थापित "श्री स्वाध्याय सदन" करता रहा। सन् १९४९ ई० में इस स्तोत्र पर एक संस्कृत टीका का निर्माण हुआ। तदनन्तर सन् १९५३ ई० में इस पर एक हिन्दी टीका भी लिखी गई और दोनों ही टीकाओं के समेत इसे उसी वर्ष भरतपुर से प्रकाशित किया गया।

सन् १९६० ई० में पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय ने टीकाकार को इस स्तोत्र के कई एक श्लोकों में कुछ एक शब्दों से प्रतिपादित होने वाले कुछ ऐसे अर्थ भी बता दिए जिन पर ऊपरोक्त दो टीकाओं के द्वारा प्रकाश नहीं पड़ा था। टीकाकार ने उन अर्थों को संक्षेप से टिप्पणियों के रूप में लिख कर रखा और कालान्तर में एक नवीन सक्षिप्त संस्कृत टीका का निर्माण करते हुए स्तोत्र पर एक विस्तृत उपोद्घात हिन्दी भाषा में लिख लिया। उस उपोद्घात में देवी पराशक्ति के उन पांच अन्तरङ्ग स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया जिनकी स्तुति इस स्तोत्र में की गई है। जोधपुर के स्व० श्री रमानन्द शास्त्री उस सारी लिखित सामग्री को ले गए। उनकी इच्छा थी कि इस अभिनव टीका के तथा उपोद्घात के और पुरानी दो प्रकाशित टीकाओं के आधार पर हिन्दी भाषा में स्तोत्र की एक विस्तृत टीका का निर्माण करके उसे वहीं से प्रकाशित करें। परन्तु प्रारब्धवशात् वे असमय में शरीर छोड़ गए और यह काम उनसे हो नहीं पाया। जो लिखित सामग्री वे ले गए थे उसके विषय में कुछ भी पता नहीं चला कि उसका क्या हुआ। टीकाकार के पास केवल सक्षिप्त टिप्पणियां ही रह गईं।

टीकाकार का संकल्प था कि उन टिप्पणियों के आधार पर एक

अभिनव विस्तृत संस्कृतटीका लिखी जाए और उसका संक्षिप्त सार हिन्दी भाषा में भी साथ दिया जाए। परन्तु अब सन् १९८५ ई० में जो लिखने में प्रवृत्ति सक्रिय हो गई तो पढ़ने वालों को विचार में रखते हुए यही निश्चय ठहर गया कि विस्तृत टीका हिन्दी में ही लिखी जाए और स्पष्टीकरण के लिए कहीं-कहीं संस्कृत व्याख्या भी साथ रख दी जाए। तो अब उन संक्षिप्त टिप्पणियों के आधार पर, पुरानी प्रकाशित टीकाओं के आधार पर और अभिनव विचार विमर्श के आधार पर इस वर्तमान अभिनव हिन्दी टीका का निर्माण काफी विस्तार से किया गया।

यह अभिनवा टीका एक स्वतन्त्र टीका बन गई। इसमें स्तोत्र के दार्शनिक रहस्यों पर और साधना सम्बन्धी गूढ विषयों पर स्पष्टतया प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि एक एक श्लोक की टीका को मन्द-मन्द गति से विचार विमर्श पूर्वक पढ़ा जाए। तब स्तोत्र में प्रतिपादित दर्शन-रहस्य समझ में आ सकते हैं। यह स्तोत्र सुगम नहीं है। इसमें सिद्धों की दर्शन विद्या के वे रहस्य भरे पड़े हैं जिन तक षड्दर्शनों की खोज पहुंचने नहीं पायी। फिर स्तोत्र की और टीका की भाषा दार्शनिक ढङ्ग की है जिसे पुनः-पुनः सोच समझ कर पढ़ने की आवश्यकता है।

स्तोत्र के रहस्यों का स्पष्टीकरण करने के लिए टीका के प्रारम्भ में एक सुविस्तृत उपोद्घात दिया हुआ है। उसे ठीक तरह से सोच समझ कर पढ़े विना स्तोत्र के रहस्य समझ में नहीं आ सकते हैं। भगवती पराशक्ति के उन पांच अन्तरङ्ग स्वरूपों के रहस्यात्मक

तात्पर्य पर प्रकाश डालने वाले इस उपोद्घात को टीका का एक मुख्य अंग समझा जाना चाहिए।

जिन बातों पर पूर्व प्रकाशित टीकाओं के द्वारा विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है उनका पुनः प्रतिपादन इस नवीन टीका में नहीं किया गया। अतः इस टीका को भी और उन दो टीकाओं को भी पढ़ना आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

प्रभो शम्भो दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयोर्
भवारण्यादस्माद् विषमविषयाशीविषवृतात्।
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन् निजतनयमात्मीकुरु शिव ॥

——:०:——

विषय सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
१.	सिद्धों की दर्शन विद्या	९
२.	शिव और शक्ति	१४
३.	शक्ति का महत्त्व	१७
४.	पांच अन्तरङ्ग शक्तियां	२३
५.	महानुभव स्तोत्र	३१
६.	मङ्गलाचरण	३२
७.	चित्शक्ति	३४
८.	आनन्दशक्ति	३८
९.	इच्छाशक्ति	४४
१०.	ज्ञानशक्ति	४९
११.	क्रियाशक्ति	५३
१२.	पराशक्ति	५६
१३.	उपसंहार	६१

स्तोत्रकार



ग्रन्थकार महोदय :—

सर्वतन्त्र—स्वतन्त्र-महामहिम-श्रीमद्-

आचार्य अमृतवाग्भव जी महाराज ।

चित्र सं० १९९२ विक्रमी का ।

सिद्धों की दर्शन विद्या

हिन्दुधर्म के और हिन्दुओं की दर्शन विद्याओं के मूल स्रोत सिद्ध योगियों की वह अनुभूतियां हैं जो उन्हें योग के अभ्यास से प्राप्त होती रहीं । उन अनुभूतियों के तात्पर्यों को अपनी बुद्धि के स्तर पर समझ कर उन सिद्धों ने उनके विषय में कोई निश्चित धारणाएं ठहरा लीं और उन्हें अपनी वाणी और लेखनी के द्वारा उपदेशों के रूप में जनता के सामने प्रकट किया । उनके ऐसे उपदेश ही हमारी दर्शन विद्याओं के रूप में विकास को प्राप्त होते गए । उन दर्शन-विद्याओं के आधार पर ही हिन्दुधर्म विविध प्रकार के विकास को प्राप्त कर गया । ऐसे दार्शनिक सिद्ध योगियों में से जिन्हें वास्तविक सत्य की गहरी से गहरी अनुभूतियां होती रहीं वे अधिकांश में शैव/शाक्त परम्परा के सिद्ध थे । उनमें से भी जिन्हें वास्तविक सत्य के अन्तरतम स्वरूप का और स्वभाव का साक्षात्कार होता रहा उन्होंने अपनी गहरी अनुभूतियों के आधार पर परम अद्वैतमय परमेश्वरता के सिद्धान्त को सत्तर्क की युक्तियों से विकास में लाया । उन सिद्ध योगियों ने दर्शन विद्या के विषय में जो उपदेश दिए उनके अनुसार इन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का मूल आधार एक ही तत्त्व है । वह एक तत्त्व असीम और शुद्ध चेतना है । उस चेतना का स्वभाव परिपूर्ण आनन्द है । तो समझिए कि

शुद्ध चेतना चिदानन्दमयी है। इसलिए उस मूल तत्त्व को चिदानन्द भी कहा गया। उस मूल तत्त्व का परिपूर्ण आनन्द ही उसकी परिपूर्ण परमेश्वरता का मूल है। वह परमेश्वरता अपने स्वभाव से ही लीला विलासमयी है। परतत्त्व की वह स्वभावभूता परमेश्वरता स्पन्दनात्मिका है। उसका स्पन्दन कोई चलनात्मक भौतिक गतिशीलता नहीं है। वह संकल्प-विकल्पमयी मानसिक गति भी नहीं है। फिर वह भूख, प्यास आदि जैसी प्राण की गति भी नहीं है। चिद्रूप परतत्त्व को सदैव ही अपने आपका तथा अपने स्वभाव का जो विमर्शन स्वयमेव होता रहता है वही उसकी आध्यात्मिक गतिशीलता है और उसी को उसका पर-स्पन्द कहते हैं। उसकी आनन्द-मयता का चमत्कार ही यह पर-स्पन्द है। इस स्पन्दात्मक गति-शीलता से ही परतत्त्व सदैव सृष्टि संहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों का आभासन बहिर्मुखतया करता ही रहता है। ऐसा करते रहना ही उसका मुख्य स्वभाव है। यह स्वभाव ही उसकी परमेश्वरता है।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड परमेश्वर के चिदात्मक स्वरूप के भीतर सदा विद्यमान रहते हैं। परन्तु उसके भीतर वे एकमात्र चिद्रूपतया ही चमकते रहते हैं। वहां उनके विषय में परमेश्वर को जो विमर्श होता है, वह केवल एकमात्र शुद्ध चिदात्मक और असीम तथा परिपूर्ण "अहं" इसी रूप से हुआ करता है। वहा "इदं" इस भाव का अर्थात् भेदभाव का नामोनिशान भी नहीं होता है। वह सर्वथा अभेदात्मक ही होता है। वड़ के छोटे से बीज के

भीतर बड़ का वृक्ष सदैव विद्यमान रहता है। यदि वहां विद्यमान नहीं होता तो उसमें से प्रकट ही कैसे होता। वस्तुतः वट-बीज में एक ऐसी शक्ति विद्यमान रहती है जिसके माहात्म्य से वह बीज अन्य साधनों की सहायता से वृक्ष के रूप में प्रकट हो जाता है। वैसे ही शुद्ध चिन्मय परतत्त्व में एक ऐसी सुविचित्र शक्ति है जिस की महिमा से वह जैसे चाहे वैसे संसार के रूप में प्रकट होता है। तो समझिए कि बीज के भीतर वृक्ष बीज की शक्ति के रूप में रहता है। उसी तरह से परतत्त्व के भीतर सारा ही जगत् उस परतत्त्व की शक्ति के रूप में सदा विद्यमान रहता है। अन्तर इतना अवश्य है कि बीज जड है अतः उसे न तो अपना वि शंन होता है कि "मैं हूं" और न ही उसे अपनी शक्ति का ही विमर्शन हुआ करता है। उसके विपरीत परतत्त्व चिद्रूप ही है अर्थात् परिपूर्ण चेतना ही है। अतः उसे अपना विमर्शन भी होता है और अपनी पारमेश्वरी शक्ति का भी विमर्शन होता है। फिर दूसरा अन्तर इस बात में है कि बीज परतन्त्र है। जब उसे भूमि, जल, धूप आदि की सहायता एक साथ मिले तभी वह पौधे के रूप में प्रकट हो सकता है। इसके विपरीत पर-तत्त्व स्वतन्त्र है। वह विना किसी सहायता के स्वयमेव अपनी इच्छा के अनुसार जगत् के रूप में प्रकट होता है। तीसरा अन्तर दोनों मे यह है कि ज्यों ही बीज पौधे के रूप में प्रकट हो जाता है, त्यों ही उसकी बीजमयी आकृति लुप्त हो जाती है। वस्तुतः बीज अपने स्वरूप के परिवर्तन के द्वारा ही पौधा बन जाता है। परन्तु परतत्त्व समस्त

विश्व के रूप में प्रकट होता हुआ भी अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप में सदैव ठहरा ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन होता नहीं। स्वरूप परिवर्तन को दर्शनविद्या की परिभाषा में परिणाम कहते हैं। परतत्त्व में परिणाम नही होता है। बिना परिणाम के ही वह प्रतिबिम्ब न्याय से जगत् के रूप में प्रकट होता है।

दर्पण में बीसों पदार्थ प्रतिबिम्बों के रूपों में प्रकट होते रहते हैं, परन्तु फिर भी दर्पण के अपने स्वरूप में कोई परिवर्तन या परिणाम नहीं होता है। इसी तरह से परतत्त्व की चिन्मयता के प्रकाश के भीतर समस्त ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित होते हुए प्रकट होते रहते हैं, फिर भी परतत्त्व शुद्ध चिद्रूप ही सदा बना रहता है। उसमें और दर्पण में परस्पर दो बातों में भेद भी होता ही है। दर्पण जड होता है। अतः उसे न तो अपने आपका विमर्शन "मैं" इस रूप में होता है और न ही अपने भीतर प्रतिबिम्बरूपतया प्रकट होते हुए नगर, ग्राम आदि का ही उसे विमर्शन होता है कि "ये हैं"। परन्तु परतत्त्व चिन्मय होता है; अतः उसे पहले तो अपने आपका विमर्शन होता है "मैं" इस रूप में। फिर उसे अपने भीतर प्रतिबिम्बवत् प्रकट होते हुए जगत् का भी विमर्शन "यह" इस रूप में होता रहता है। दूसरा अन्तर इस बात में है कि दर्पण परतन्त्र है। अतः उसे अपने भीतर प्रतिबिम्बों को प्रकट करने के लिए उन बिम्बरूपी बाह्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ती ही रहती है जो उसमें अपने प्रतिबिम्ब डाला करते है। परन्तु परतत्त्व स्वतन्त्र है। उसे अपने से

भिन्न किसी भी अन्य वस्तु की कभी कोई आवश्यकता पड़ती ही नहीं। फिर प्रश्न उठता है कि वह किसके प्रतिबिम्बों को अपने प्रकाश के भीतर प्रकट करता है? इसका उत्तर सिद्धों की दर्शन-विद्या में यह है कि वह अपनी ही शक्ति के भिन्न-भिन्न पक्षों (पहलुओं) के प्रतिबिम्बों को अपने ही चित् प्रकाश के भीतर जो चमका देता है वे ही जगत् के समस्त पदार्थों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। सदाशिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक के सभी तत्त्व परमेश्वर की शक्तियों ही के प्रतिबिम्ब हैं।

जो दर्शनकार यह उपदेश देते हैं कि परब्रह्मरूपी परतत्त्व अपने से अतिरिक्त माया नामक प्रातिभासिक तत्त्व के संसर्ग से ही ईश्वर के रूप में केवल प्रतीत होता है और मूल अज्ञान हो के कारण वैसा प्रतीत होता है तथा वैसा प्रतीत होने वाला ईश्वर ही सृष्टि संहार आदि करता हुआ प्रतीत होता है, उन दर्शनकारों ने तो इस तरह से परमेश्वरता का आधार माया को ही ठहराया। फिर ब्रह्म को उन्होंने अकर्ता और अनीश्वर ठहराते हुए एक विशेष प्रकार की आंशिक नास्तिकता का ही प्रचार किया और शक्तिहीन ब्रह्म को शून्य गगन की जैसी स्थिति पर पहुँचा दिया। इसीलिए वैष्णव दर्शनकारों ने उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा और शैव सिद्धों ने उनके मत को "शून्यवाद के समीप ठहरा हुआ ब्रह्मवाद" कहा। अतः ऐसे मायावाद का प्रचार करने वालों को सिद्धों की दर्शनविद्या के गुरूओं में नहीं गिना जा सकता है। सिद्धों की दृष्टि में परमेश्वर की उस अपनी ही स्वातन्त्र्यशक्ति को

माया कहा गया है जो असम्भव बातों को भी सम्भव बना सकती है और बनाया करती भी है। उसी मायाशक्ति का जो बहिर्मुख प्रतिबिम्ब परमेश्वर के शुद्ध प्रकाश के भीतर प्रकट होता है, उसी को प्रातिभासिक माया तत्त्व कहा गया है। उसी माया तत्त्व से समस्त जड जगत् की सृष्टि हुआ करती है जिसे परब्रह्म अपनी क्रीडनशील इच्छा से ही बहिर्मुखतया प्रकट करता है। इस तरह से सिद्धों की दृष्टि में माया परब्रह्म से कोई भिन्न वस्तु न होती हुई मूलतः उसी की शक्ति है।

शिव और शक्ति

परतत्त्व सब कुछ के रूप में प्रकट हो सकता है और होता रहता है। वह परमेश्वर है और सृष्टि, स्थिति, संहार आदि पारमेश्वरी लीलाओं का प्रदर्शन प्रतिबिम्ब न्याय से कर सकता है और करता रहता है; बन्धमोक्ष लीला के खेल का प्रदर्शन कर सकता है और सदैव करता ही है; वह कौन सी बात है जिसे वह कर नहीं सकता है ? उसमें कौन सी सामर्थ्य नहीं है ? उसके इस प्रकार के परिपूर्ण सामर्थ्य को ही शक्ति कहते हैं। फिर उस परतत्त्व को उसकी ऐसी परिपूर्ण सामर्थ्य ही के कारण परमेश्वर कहा जाता है। वस्तुतः शक्ति ही परमेश्वर की परमेश्वरता है। फिर सिद्धजनों ने इस बात का भी अनुभव किया कि परमेश्वर और उसकी परमेश्वरता, शिव और शक्ति, वस्तुतः कोई दो भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं हैं। एक ही परतत्त्व के स्वरूप और स्वभाव को पूरी तरह से समझ लेने और समझा देने

के प्रयोजन से उसे ये दो नाम दिए गए हैं और उसके विषय में दो धारणाएं ठहराई गईं हैं। परतत्त्व वह शुद्ध चिद्रूप है जिसे शुद्ध संवित् कहा जाता है। फिर उसमें यह सामर्थ्य है कि वह जगत् के रूप में अपने आपको नटवत् प्रकट करता रहता है। उसमें ऐसी सामर्थ्य है, केवल इतनी ही बात नहीं है। शक्तिरूपता (सामर्थ्य) उसका आवश्यक स्वभाव ही है जो सदैव बहिमुखतया प्रकट होता ही रहता है। जगत्-लीला के रूप में सदा प्रकट होते ही रहना अर्थात् अपनी शक्ति के अनन्त पक्षों (पहलुओं) के प्रतिबिम्बों का प्रदर्शन करने के खेल को सदा खेलते ही रहना उसका अपना स्वभाव है। यही उसकी-परमेश्वरता है। इसीको उसकी परब्रह्मता कहा गया है। यदि यह उसका अपना स्वभाव नहीं होता तो जगत्-सृष्टि कौन करता ? वैसी बात होने पर जगत् होता ही नहीं। एकमात्र महाभयानक शून्य ही शून्य होता, अभाव ही अभाव होता। परतत्त्व भी होता या नहीं होता, इस बात पर भी कोई विचार-विमर्श या शङ्का समाधान भी कभी होता ही नहीं। परन्तु परमेश्वरता परतत्त्व का अपना स्वभाव ही है। उसी के उस अपने स्वभाव की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति के द्वारा जगत् का आभासन होता है और सृष्टिसंहार आदि लीलाओं का नाट्य-कलात्मक अभिनय सदा होता रहता है। फिर ऐसा सदैव होते रहने पर भी उस परतत्त्व के अपने मूलभूत स्वरूप में कभी कोई भी परिवर्तन नहीं आने पाता है। वह सदैव शुद्ध चिन्मात्र ही के रूप में निरन्तर चमकता ही रहता है। उस परतत्त्व के इस अविचल शुद्ध चिन्मयी स्थिति में ठहरे

रहने के भाव को समझने और समझाने के लिए उसे शिव कहा जाता है। शिव वह असीम संवित्-समुद्र है जो निस्तरङ्ग और शान्त भाव में एकरूपतया चमकता ही रहता है वह सर्वथा और सर्वदा चिन्मात्र ही है, कभी भी और कहीं भी अचित् नहीं है। विशाल समुद्र के भीतर जैसे ज्वारभाटों, धाराओं और तरङ्गों की झकझोरमयी हलचल सदैव बना ही रहती है वैसे ही इस जड़ जगत् के अनन्त प्रपञ्चों का आभास सदैव उसमें होता ही रहता है। उस आभास की लीला के नाट्यकलात्मक सतत् क्रीडामय स्वभाव की दृष्टि से उस पर तत्त्व को ही शक्ति कहा जाता है। अतः एक ही परतत्त्व शिव भी है और शक्ति भी है। जो ही शिव है वही शक्ति है। तो शिव शक्ति है और शक्ति शिव है। दोनों में कोई वास्तविक भेद है ही नहीं। उस परतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण शुद्ध संवित् ही के रूप में पहचान लेना होता है। फिर उसे इस परमेश्वरतात्मक जगत-लीला के खेल को खेलते हुए भी पहचान लेना होता है। दोनों प्रकारों से परतत्त्व के स्वरूप और स्वभाव को पहचान लेने पर ही साधक का आध्यात्मिक ज्ञान परिपूर्णता को प्राप्त करता है। इसीलिए सिद्धों ने परतत्त्व को शिवरूपतया भी और शक्तिरूपतया भी ठहराते हुए उसके उन दोनों पक्षों (पहलुओं) को उपासना के साधना मार्गों का उपदेश किया। अविचल, कूटस्थ, चिन्मात्र रूप में उसे शिव कहा और जाना गया तथा सतत् स्पन्दमान तथा गतिशील लीलात्मक परमेश्वरता के भाव में उसे ही शक्ति कहा गया।

जितना बन्धन और मोक्ष की लीलाओं का प्रपञ्च है, तथा जितना भी पढ़ना, पढ़ाना, समझना, समझाना, पूजा-पाठ करना, योग-साधना का अभ्यास करना और परतत्त्व को वास्तविक रूप में जानना आदि है, तथा जितने भी सृष्टि-संहार आदि पारमेश्वरी कृत्य हैं, यह सब कुछ शक्ति के ही क्षेत्र में आता है। इस कारण से उत्कृष्ट सिद्ध योगियों ने मूलतत्त्व के शिवभाव की अपेक्षा उसके शक्तिभाव को ही विशेष महत्त्व दिया। यह केवल शैव सिद्धों की बात ही नहीं, अनेकों ही वैष्णव सम्प्रदायों में भी यही आदर्श चलता आया है। वृन्दावन में सभी भक्त लोग कृष्ण की शक्ति राधा को अधिक महत्त्व देते हैं। वहां कृष्ण को प्रायः राधा-वल्लभ कहते हैं।

शक्ति का महत्त्व

शिव को जिस पहलू से देखा जाए वही पहलू शक्तिमय ही होता है; अतः शिव के जिस किसी भी रूप की उपासना की जाए वह रूप उसकी शक्ति के विकास के ही किसी सोपान पर ठहरा रहता है। अतः शिव की उपासना वस्तुतः उसकी शक्ति की ही उपासना होती है। इसलिए सिद्धों की दर्शनविद्या में शक्ति का ही विशेष महत्त्व माना गया है। फिर भी शक्ति के ऐसे उपासक प्रायः शैव ही कहलाते हैं। कारण यह है कि जिस किसी भी शक्ति की उपासना की जाए वह शक्ति वस्तुतः शिव ही की शक्ति हुआ करती है। अतः शाक्त साधना के द्वारा वस्तुतः शिव की ही उपासना की जाती है। इसीलिए तो आ० अभिनवगुप्त ने

अपने क्रमस्तोत्र में काली देवी की स्तुति करते हुए अन्त पर यही कहा है कि "मैंने इस प्रकार से शिव की स्तुति की।" इसी कारण से पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय ने अपने सिद्ध-महारस्य नाम के दर्शनग्रन्थ में परतत्त्व को "शाक:" यह नाम दे रखा। "शाक:" का अर्थ है "शकनम्" अर्थात् सकना या सामर्थ्य। "शिव" ऐसे नाम से शक्ति की प्रधानता स्फुट नहीं होती है। फिर "शक्ति" ऐसा नाम दिया जाए तो पाठक का विचार किसी महिला शरीरधारिणी देवी की ओर चला जाता है, पर तत्त्व की ओर नहीं। उसे "शाक:" यह नाम देने से एक तो महिलात्मकता का भाव मन में नहीं आता है और दूसरे उस शब्द के तात्पर्य पर विचार करने से शक्ति की प्रधानता का भाव मन में आ ही जाता है।

सिद्धों की दर्शन विद्या के अनुसार साधक ने अपने वास्तविक स्वरूप की ही खोज करनी होती है। जब उसकी वह खोज पूरी और पक्की हो जाती है तो उसे यह सत्य साक्षात् अनुभव में आ जाता है कि वह वस्तुत: शिव ही है जीवभाव का उसने स्वयमेव नटवत् केवल प्रदर्शन मात्र क[र] रखा है; वह इस कल्पित जीवभाव में रहता हुआ भी वस्तुत शिव ही है। इस तरह से उसने अपने आपको शिवरूपतय[ा] पहचान लेना होता है। उसे पहचान लेने पर ही वह सर्वथ[ा] कृतकृत्य हो जाता है। किसी वस्तु के होने में वह चमत्का[र] नहीं होता है जो उसे प्राप्त करने में हुआ करता है। प्रत्ये[क] प्राणी वस्तुत: परिपूर्ण परमेश्वर रूपी शिव ही है। पर[न्तु] किसी को भी उस बात से कोई चमत्कार कभी होता

नहीं। चमत्कार तो तभी होता है जब कोई प्राणी योग के अभ्यास से अपने कल्पित अज्ञान को नष्ट करके इस बात का साक्षात् अनुभव करे कि :"मैं तो वस्तुतः शिव ही हूँ"। इस तरह से शिव होते हुए भी विशेष चमत्कार अपने शिवभाव को पहचान लेने में हो होता है। पहचान लेने के लिए भूल जाना आवश्यक होता है । पहले जाने हुए और पश्चात् भूले हुए व्यक्ति ही को तो पुनः पहचान लिया जाता है । परमेश्वर अपनी परमेश्वरता को पहचानते हुए एक अपूर्व कृतकृत्यता के चमत्कारात्मक आस्वाद को अनुभूति के हो लिए अपने स्वभाव को स्वयमेव भुला डालकर और जीवभाव में प्रकट होकर संसृति के चक्कर में चिरकाल तक विचरण करने के अनन्तर ही योग के अभ्यास से उसे फिर से पहचान लेता है। यही इस पारमेश्वरी लीला का सारभूत रहस्य है। इस पारमेश्वरी लोला में जो सर्वोपरि आनन्द का चमत्कार होता है वह अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव की प्रत्यभिज्ञा में, अर्थात् उसे पहचान लेने में ही होता है । उस पहचानने की लीला को अनुग्रह लीला कहते हैं । सृष्टि, और संहार नाम की तीन लीलाओं में वह चमत्कार नहीं, जो प्रत्यभिज्ञा कराने वाली अनुग्रह लीला में है । बीच वाली विधान नाम की लीला चौथी लीला होती है । उस लीला के द्वारा शिव जीवों को गहरे से गहरे अज्ञान के गर्तों की ओर धकेलता रहता है और पांचवी अनुग्रह नाम की लीला के द्वारा जीवों को सद्गुरू से सम्पर्क करवा कर और सत्शास्त्रों के प्रति उनमें रूचि को उत्पन्न करके अन्ततोगत्वा सदुपाय के

अभ्यास के द्वारा उनके अज्ञान को नष्ट करता हुआ उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा करा देता है । यह पांचवीं लीला ही सबसे अधिक चमत्कारमय आनन्द का आस्वाद देने वाली होती है ।

परमेश्वर इस पांच प्रकार की लीला का अभिनय तभी कर सकता है जब उसमें ऐसा करने की शक्ति है । साधक को भी अपने शिवभाव की पहचान तभी होती है जब उसे यह अनुभव हो जाता है कि उसके भीतर पारमेश्वरी शक्तियां हैं । केवल कहने सुनने के लिए और व्याख्यानों के लिए कितने ही लोग "अहं ब्रह्मास्मि" 'मैं परब्रह्म हूं' या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' 'यह सारा विश्व वस्तुतः ब्रह्म ही है', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" 'ब्रह्म सत्य पदार्थ है और जगत् मिथ्या है'—इस इस प्रकार के वाक्यों की रट लगाते रहते हैं और भारी भरकम परिभाषाओं से भरे भाषणों से जनता पर अपना प्रभाव जमाते रहते हैं; परन्तु यदि इस बात की परीक्षा की जाए कि क्या इन वाक्यों की सत्यता पर उनके हृदय में विश्वास होता भी है या नहीं तो निन्यानवे प्रतिशत प्रायः ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हें विश्वास खाने पीने पर; जीवन के सुख पर और धनसम्पत्ति आदि सुख सामग्री पर ही होता है । उस बात का कारण यह होता है कि वे लोग केवल बुद्धि के स्तर पर अद्वैत सिद्धान्त को समझे होते हैं और उसी स्तर पर औरों को भी समझाते रहते हैं । अनुभूति के स्तर पर उन्होंने अपने आप को ब्रह्म नहीं जाना होता है । "मैं ब्रह्म हूं" इस बात पर कम से कम वैसा विश्वास होना चाहिए जैसा विश्वास

मानव को अपने नाम पर या अपने माता-पिता, भाई-बहन, वंश आदि के साथ अपने सम्बन्ध पर हुआ करता है। पक्का अद्वैत ज्ञान होने पर तो उससे भी अधिक पक्का विश्वास ब्रह्मभाव पर, अर्थात् अपनी परमेश्वरता पर हो जाता है। वह तभी हो सकता है जब साधक को यह अनुभूति हो जाए कि वह जो चाहे सो जान भी सकता है और कर भी सकता है। ऐसी अनुभूति के हो जाने पर उसे अपने भीतर अनिरुद्ध इच्छाशक्ति का तथा स्वतन्त्र ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अनुभव हो जाता है; इस तरह से ऐसा सिद्धिसम्पन्न साधक हृदय से इस बात को जान लेता है कि वह सचमुच परमेश्वर ही है। इस तरह से वह अपने भूले हुए परमेश्वरभाव को पुन: पहचान कर कृतकृत्य हो जाता है। वह अपनी परमेश्वरता को तभी विश्वासपूर्वक समझ लेता है जब उसे अपनी उपरोक्त-पारमेश्वरी शक्तियों का साक्षात् अनुभव हो जाता है। तो अपनी शैवी शक्तियों के अनुभव से ही वह इस बात को विश्वासपूर्वक जान सकता और कह सकता है कि "शिवोऽहम्" अर्थात् "मैं शिव हूँ"। अत: अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेने के लिए अपनी पारमेश्वरी शक्तियों को अपने में पुन: अभिव्यक्त करना और उन्हें साक्षात् अनुभव में ले आना आवश्यक होता है। इसीलिए आगम शास्त्रों में शक्ति को शिव का मुख कहा गया है। इस बात का तात्पर्य यह है कि जैसे किसी मानव की पहचान (शिनाख्त) करनी हो तो उसके मुख को देखकर ही वैसा किया जाता है, वैसे ही अपने शिवभाव को अपनी

पारमेश्वरी शक्तियों के साक्षात् अनुभव ही के द्वारा पहचाना जा सकता है। आगमों में इस विषय पर और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है –

'यथालोकेन दीपादेः किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥'

(वि. भै – २१)

अर्थ—"शिव जी अपनी प्रेयसी शक्ति से कहते हैं कि 'हे प्यारी, जिस तरह से दीपक आदि के प्रकाश से या सूर्य की किरणों से पूर्व पश्चिम आदि या आगे, पीछे, दाएं, बाएं आदि के दिग्विभाग इत्यादि को जाना जाता है, उसी प्रकार से शक्ति के द्वारा ही शिव को जाना जाता है।" तो अपनी शिवात्मकता को पहचानने का उपाय अपने में ही शिव की शक्तियों को चमका देते हुए उनका साक्षात् अनुभव करना होता है। वही शिव है जिसमें शैवी शक्ति हो। शक्ति ही वस्तुतः शिव की शिवता है, क्योंकि यथार्थ दृष्टि से देखा जाए तो शिव शक्ति है और शक्ति शिव है। दोनों ही परस्पर अभिन्न हैं ; वस्तुतः एक ही तत्त्व के ये दो नाम हैं। वह तत्त्व वही मूल तत्त्व है, जिसे परतत्त्व कहा जाता है। बस अपने विश्वोत्तीर्ण शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप में सदैव निरन्तर चमकता ही रहता है। उसके उस चिन्मात्रस्वरूप में कभी कोई विकार या अन्तर नहीं आता है। फिर जितना भी यह प्रपञ्च है इसके रूप में भी वही सदा चमकता रहता है। सिद्ध योगी महानुभाव उसे उपरोक्त विश्वोत्तीर्ण चिन्मात्र स्वरूप में भी

और जगत के सृष्टि संहार आदि करते हुए इस विश्वात्मक रूप में भी साक्षात् अनुभव करते रहते हैं। वे उस एक ही अद्वैत तत्त्व को उसके विश्वोत्तीर्ण, शुद्ध, चिन्मात्र रूप में शिव कहा करते हैं और उसके इस विश्वात्मक रूप में उसी को शक्ति भी कहते हैं। शिव यदि शक्तिरूप नहीं होता तो वह भी शिव नहीं होता। फिर शक्ति यदि शिवात्मिका नहीं होती तो वह होती ही नहीं। तभी तो सर्वमङ्गला नामक आगमशास्त्र में कहा गया है—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत् सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

(सर्वमङ्गलाशास्त्रम्)

अर्थ—"शक्ति और शक्तिमान् ये तो वस्तुतः कहने के लिए दो पदार्थ हैं उनमें शक्तिमान् महेश्वर है और उसकी शक्तियां यह सारा जगत् है।"

पांच अन्तरङ्ग शक्तियां

पारमेश्वरी शक्ति ही परमेश्वरता है। सारे का सारा जगत् पारमेश्वरी शक्ति का बहिर्मुख विकास है। वह परमेश्वरता वस्तुतः एक है। उसी को शैव-शाक्त सिद्ध जन पराशक्ति कहा करते हैं। तो पराशक्ति परिपूर्ण परमेश्वरता का नाम है। उस पराशक्ति की विश्वात्मिका अभिव्यक्तियां असंख्य हैं। उन असंख्य प्रकार की अभिव्यक्तियों के कारण से उस एकमात्र पराशक्ति के भी असंख्य नाम पड़े हैं। इस तरह

से एक ही पारमेश्वरी पराशक्ति असंख्यों ही नामों सहित असंख्यों ही रूपों में प्रकट होती रहती हैं। तभी तो धर्माचार्य नामक सिद्ध ने पञ्चस्तवी में इस प्रकार से देवी की स्तुति की है—

"सङ्कोचमृच्छसि यदा गिरिजे तदानीं
वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा ।
यद्वा विकासमुपयासि यदा तदानीं
त्वन्नामरूपगणनाः सुकरीभवन्ति ॥"
(पञ्चस्तवी ४-२२)

अर्थ— "इस पद्य में 'असि' और 'भवन्ति' इन दो पदों में काकु ध्वनि है जिससे दोनों पद प्रश्नार्थक बन जाते हैं। कवि जगन्माता शक्ति से पूछता है कि 'हे देवि गिरिजा, जब तू अपने व्यक्त स्वरूप को सङ्कोच में ले आती है तब नामरूप के सम्बन्ध से परे ठहरी हुई तू वाणी का और तर्क का विषय बन सकती है क्या ? फिर जब तू बहिर्मुख विकास को प्राप्त हो जाती है, तब तुम्हारे नामों और रूपों की कोई गणना हो सकती है क्या ?" वस्तुतः उस एकमात्र पराशक्ति की अभिव्यक्तियों के फलभेद से उसके असंख्य नाम पड़े हैं और वही पराशक्ति किन्हीं परिमित कार्यों को चलाने के लिए असंख्य देवियों का शरीर धारण करके भी प्रकट होती रहती है।

सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक का एक एक सृष्ट तत्त्व पराशक्ति की किसी एक विशेषता को लेकर के ही प्रकट होता रहता है। अतः किसी तत्त्व में उसकी किसी

विशेषता को प्रधानता होती है और किसी अन्य तत्त्व में उसकी किसी अन्य विशेषता को। ऐसा न्याय सदाशिव से ऊपर के तत्त्वों पर भी लगता है। ऊपर के वे तत्त्व तीन तत्त्व हैं। उनमें से दो हैं शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व और तीसरा है छत्तीसों तत्त्वों के आविर्भाव और तिरोभाव का आधारभूत परम-तत्त्व, जिसे परमशिव या परब्रह्म या परमेश्वर कहते हैं। वस्तुतः इन तीन तत्त्वों में परस्पर कोई भी भेद नहीं है। ये तीनों ही तत्त्व वस्तुतः एक ही परतत्त्व है। उस मूल तत्त्व के स्वरूप और स्वभाव को समझने और समझाने के लिए उसमें काल्पनिक भेद को ठहराते हुए उसे ये तीन नाम दिए गए हैं। तदनुसार एक ही परमतत्त्व को उसकी अविचल कूटस्थ विश्वोत्तीर्णता की दृष्टि से शिव कहा जाता है और उसी को उसकी गतिशील विश्वमयता की और जगत् लीला के विलास की दृष्टि से शक्ति कहा जाता है। एक ही परमशिव प्रकाशरूपता की प्रधानता को लेकर के शिव कहलाता है और विमर्शरूपता की प्रधानता को लेकर के वही शक्ति कहलाता है। फिर प्रकाश विमर्श से भिन्न नहीं है। विमर्श ही प्रकाश को प्रकाशता है और प्रकाश ही विमर्श की सत्ता है। प्रकाश प्रकट होते रहने को कहते हैं और विमर्श प्रकटता की प्रतीति को कहते हैं। चैतन्य स्वयमेव सदैव प्रकट होता रहता है और उसे स्वयमेव अपने आपकी तथा अपने प्रकट होते रहने की प्रतीति भी होती ही रहती है। अतः चैतन्य को ही प्रकाश भी कहा जाता है और विमर्श भी। फिर प्रकाश और विमर्श परस्पर

जो अभिन्न हैं तो उस अभिन्नता की दृष्टि से उनके सामरस्य को संवित् कहते हैं। परिपूर्ण संवित् को ही परमशिव नाम दिया गया है। शुद्ध और परिपूर्ण तथा असीम संवित्स्वरूप परमशिव में चित्शक्ति की प्रधानता है। चित्शक्ति शुद्ध और असीम चेतना को कहते हैं। चेतना के आनन्दमय प्रकाश को शिव कहते हैं। अतः प्रकाश-प्रधान शिवतत्त्व में आनन्दशक्ति की प्रधानता है। आनन्द की लहर को इच्छा कहा जाता है, या यों कहिए कि आनन्द के चमत्कारात्मक स्पन्द को इच्छा कहते हैं। संवित् की विमर्शात्मिका शक्ति ही वह स्पन्द है। तो उस इच्छाशक्तिप्रधान विमर्शरूपता को शक्ति तत्त्व कहा जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया, इन तीन तत्त्वों में परस्पर भेद कल्पना के आधार पर ही ठहराया गया है। अतः परमशिव, शिव और शक्ति तीनों एक ही हैं। वैसे ही चित्शक्ति आनन्दशक्ति और इच्छा-शक्ति एक ही तत्त्व के पूर्ण स्वभाव का विश्लेषण करके ठहराई गई तीन परिभाषाएं हैं। परमशिव रूप परतत्त्व को चित्शक्ति कहा गया है। चित् चैतन्य का नाम है। चैतन्य अपने स्वभाव से ही आनन्दघन होता है और आनन्द अपनी मस्ती में सदैव स्पन्दमान होता रहता है। तो चित् का स्वभाव आनन्द है और आनन्द की तरङ्गें इच्छा है। इच्छा शब्द से यहां किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं समझा जाना चाहिए। न ही यह इच्छा किसी कुण्ठा को दूर करने की समीहा ही है। पारमेश्वरी इच्छा परतत्त्व की वह उमङ्ग है जिसका आधार उसकी आन-

घनता है और जिसका फल समस्त जगत् के विषय में की जाती हुई सृष्टि, संहार आदि की लीला है । इस तरह से चित्, आनन्द और इच्छा ये तीनों शक्तियां परमेश्वर के स्वरूप के ही भीतर निहित हैं । उसके स्वरूप और स्वभाव को समझने और समझाने के लिए उसको पारमेश्वरी पराशक्ति का विश्लेषण इन तीन शक्तियों के रूप में किया गया है ।

इच्छाशक्ति के तीव्र परिस्पन्दन के प्रभाव से हो परमेश्वर सृष्टि संहार आदि क्रीडा का अभिनय करता रहता है । उस सृष्टि आदि के प्रति जो परमेश्वर की उमङ्ग है उसी का आगमशास्त्रों में इच्छा कहा गया है । इस इच्छा को अनुभूति उपनिषदों के ऋषियों को भी हुई थी । तभी तो उन ऋषियों ने अद्वैत ब्रह्म के विषय में कहा था –

(१) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।"

(ऐ. उ. १-१)

अर्थ पहले पहल एक आत्मा ही था और कोई वस्तु प्रकाशित नहीं हो रही थी । उसने सोचा कि मैं लोकलोकान्तरों की सृष्टि करूं ।

(२) "सदेव सौम्येदग्र आसोदेकमेवाद्वितोयम्

. . . . तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ।"

(छां. उ. ७-२-३)

अर्थ—"पहले एकमात्र सद्रूप ब्रह्म ही अकेला था……
उसे विचार हुआ कि मैं बहुत बनूं, सृष्टि करूं।"

भेदमयी सृष्टि शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व में हो ही नहीं सकती है क्योंकि वे दोनों तत्त्व अभेद भूमिका के तत्त्व हैं। दोनों में "अहं" केवल ऐसा ही प्रकाश और विमर्श होता है। वहां "इदं" का नामोनिशान भी कोई नहीं होता है। इदन्ता का आभास अर्थात् भेदमय प्रमेय का आभास भेदाभेदमयी विद्याभूमिका में ही हो जाता है। वहां 'अहं' और 'इदं' दोनों ही प्रकट होते रहते है, परन्तु दोनों में परस्पर अभेद भी प्रकाशित होता ही रहता है। वहां सदाशिव तत्त्व में "अहम् इदम्" अर्थात् 'मैं यह जगत् हूं' ऐसा विमर्श होता रहता है। 'अहं' इस चिन्मय तत्त्व के भीतर 'इदं' इस जड तत्त्व का आभास होने लगता है। अभी यह "इदं" समस्त जगत् का एक अभिन्न सामान्याकार आभास के रूप में ही चमकता रहता है। अभी इस जगत् की विचित्ररूपता कोई भी प्रकट नहीं होती है। वस्तुत: सदाशिव तत्त्व में 'अहं' इस प्रकार से चमकते हुए चित्प्रकाश के भीतर 'इदं' इस प्रकार के जड पदार्थ का धीमा सा आभास होने लगता है। इच्छाशक्ति के अगले बहिर्मुख स्पन्दन से वही धीमा सा आभास स्फुट हो जाता है। इतना स्फुट हो जाता है कि 'अहं' के प्रकाश को फीका सा कर देता है। उसके फलस्वरूप उस स्थिति में 'इदम् अहम्' ऐसा विमर्शन होने लगता है। जिसमें 'इदं' वाला जड अंश ही प्रधानतया चमकने लगता है 'अहं' वाला चित् अंश उसका विशेषण जैसा बन जाता है। परन्तु अभी

तक दोनों अंशों में परस्पर अंशतः अभेद भी चमकता ही रहता है। भेदाभेदमयी विद्या दशा की ऐसी अवान्तर दशा को ईश्वरतत्त्व कहा जाता है। सदाशिव तत्त्व में 'इदं' रूपी जड-तत्त्व का अस्फुट आभास होता है और अहरूपी चित्-तत्त्व स्फुटतया चमकता रहता है। जड जगत् के ऐसे आभास को उसका ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि ज्ञान से तो वस्तु का आभास-मात्र ही होता है। तो सदाशिवदशा में परमेश्वर की जगदाभास करनेवाली ज्ञानशक्ति की प्रधानता मानी गई है और साक्षात् अनुभव में भी लाई गई है। वस्तु की स्फुट सृष्टि तो उसको करके दिखाने से ही होती है। तो ईश्वर तत्त्व में 'इदं' अंश की स्फुट सृष्टि के होने के कारण वहां परमेश्वर की क्रियाशक्ति की प्रधानता मानी गई है।

यहां तक की यह सृष्टि अन्तः सृष्टि ही है। बहिः सृष्टि तो माया दशा में ही होती है। परन्तु अन्तः सृष्टि भी सृष्टि ही होती है। कोई भी कलाकार अपनी कला की बाह्य सृष्टि से पहले उसकी अन्तः सृष्टि ही करता है। उसी वस्तु की बाह्य सृष्टि काव्यकला के द्वारा होती है जो वस्तु पहले ही कवि के मस्तिष्क के भीतर अन्तः सृष्टि के रूप में प्रकट हो चुकी हो। ईश्वरतत्त्व के भीतर जो जगत् का स्फुट आभास होता है, वह उसकी स्फुट अन्तः सृष्टि है। वहां ऐसी सृष्टि के होने से उस तत्त्व में परमशिव की क्रियाशक्ति की प्रधानता मानी गई है। इस पारमेश्वरी क्रियाशक्ति के विलास की लीला ही आगे-आगे बहिर्मुख विकास को प्राप्त करती हुई भेदमयी सृष्टि का तथा भेदमय अन्य पारमेश्वरी कृत्यों का

और समस्त ब्रह्माण्डों के सभी व्यापारों का प्रदर्शन किया करती है। स्थूल जगत् के सृष्टि-संहार आदि यही करती है। यह सारे का सारा संसार इस क्रियाशक्ति का ही बहिर्मुखी विकास है। चित, आनन्द और इच्छा ये तीन शक्तियां तो परतत्त्व की पराशक्ति के विश्लेषणमात्र हैं अतः ये उसकी अतीव अन्तरङ्ग शक्तियां हैं। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति परमेश्वर के भीतर ही होने वाली आभ्यन्तर सृष्टि को अभिव्यक्त किया करती हैं। इस कारण से ये दो शक्तियां भी परमेश्वर की अन्तरङ्ग शक्तियों में ही गिनी जाती हैं। जब साधक के भीतर शैवयोग के सफल अभ्यास से शुद्ध विद्या का उदय हो जाता है तब उसे अपने भीतर इन पांच अन्तरङ्ग शक्तियों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वैसा हो चुकने पर ही उसे विश्वास हो जाता है कि वह सचमुच शिव ही है। इस तरह से वह अपनी पारमेश्वरी शक्तियों की अभिव्यक्ति के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त करता है। ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही मुक्ति है। प्रत्यभिज्ञा के होते ही साधक जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर के छूट जाने पर या तो परिपूर्ण परमशिव के साथ एक हो जाता हुआ विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है, नहीं तो ऊर्ध्वलोकों के क्रम से दिव्य ऐश्वर्य का भोग करते-करते चिरकाल के अनन्तर परमशिवभाव में प्रवेश करता है। उस प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति को क्रममोक्ष कहते हैं। मोक्ष के सभी प्रकार अपनी पारमेश्वरी शक्तियों की अनुभूति से ही प्राप्त होते हैं, इसीलिए आ० अभिनवगुप्त ने अपने परमार्थसार में कहा है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि
गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥
(प० सा ६०)

अर्थ—वास्तविक मोक्ष का कोई वैकुण्ठ या गोलोक या शिवलोक आदि धाम नहीं होता है; न ही मोक्ष प्राप्ति के लिए कहीं संक्रमण ही करना हाता है। अज्ञान की गांठ के खुल जाने पर अपनी परिपूण पारमेश्वरी शक्ति का अभिव्यक्त हो जाना ही मुक्ति है।

महानुभव स्तोत्र

पूज्यपाद श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी को महर्षि दुर्वासा के सिखाए गए योग के अभ्यास से अपने में इन पांच अन्तरङ्ग शिव-शक्तियों की अभिव्यक्तियों का साक्षात् जो महान् अनुभव हुआ, उसी के आधार पर उन्होंने इस महानुभव शक्तिस्तव का निर्माण किया। इस स्तोत्र के प्रथम पद्य के द्वारा भगवान् शिव को ही गुरू मानकर उनको प्रणाम किया गया है। उत्कृष्टतर सिद्ध सम्प्रदाय में शाम्भव, शाक्त आदि रहस्यमय और अद्भुत योगप्रक्रियाओं का यथार्थ सदुपदेश देने वाले सद्गुरूओं को शिवरूप ही माना जाता है। शिव ऐसे ही सिद्धों के रूप में प्रकट होकर अपने अनुग्रह के पात्र बने हुए साधकों का गुरु बन जाता है। ऐसे रूप में ठहरे हुए शिव को इस प्रथम पद्य के द्वारा प्रणाम किया जा रहा

है। यह पद्य स्तोत्र का मङ्गलाचरण है। दूसरे श्लोक में परमशिव की पराशक्ति अर्थात् चित्शक्ति का निरूपण तथा जयकार काव्य की शैली में किया गया है। तीसरे पद्य के द्वारा परमशिव की आनन्दशक्ति की स्तुति की गई है। पारमेश्वरी इच्छा शक्ति का निरूपण स्तोत्र के चौथे पद्य के द्वारा किया गया है। पांचवें पद्य में परमेश्वर की इच्छा और क्रिया नामक शक्तियों के बीच में उसकी ज्ञानशक्ति को ठहराते हुए उसकी स्तुति की गई है। आगे स्फुट क्रिया-शक्ति का निरूपण और स्तवन स्तोत्र के छठे पद्य में किया गया है। सातवें श्लोक के द्वारा इन पांच अन्तरङ्ग शक्तियों के रूप में प्रकट हो जाने वाली परमेश्वर को परतरस्वभावभूता पराशक्ति का वर्णन करते हुए उसे प्रणाम किया गया है। आठवें पद्य के द्वारा पुनः परिपूर्ण परमशक्ति का ही स्मरण करते हुए स्तोत्र को पूरा किया गया है। वह पद्य स्तोत्र का उपसंहारात्मक पद्य है। अन्त में अनुष्टुभ के द्वारा स्तोत्र के निर्माणकाल का तथा स्तोत्रकार के नाम का स्फुट निर्देश करते हुए स्तोत्र के चरम पद्य का निर्माण किया गया है। एतदनुसार स्तोत्र का नाम "महानुभव शक्तिस्तवः" है और स्तोत्रकार आचार्य अमृतवाग्भव जी हैं।

मङ्गलाचरण :—

स्तोत्र का पहला श्लोक शिखरिणी छन्द में रचा गया गया है। इस श्लोक के द्वारा परमेश्वर की पारमेश्वरी लीला के स्वरूप की ओर निर्देश करते हुए उसकी परमेश्वरता रूपिणी पराशक्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है।

वस्तुतः उस पराशक्ति को ही परमेश्वर, परब्रह्म, परमशिव आदि नाम दिए गए हैं। परमेश्वर की पूर्वोक्त पांच अन्तरङ्ग शक्तियों के वर्ग में यह पराशक्ति ही पहली अन्तरङ्ग शक्ति है और उस सन्दर्भ मे इसका नाम चित् शक्ति है जिसका विशेष वर्णन दूसरे श्लोक में किया गया है। अन्य चार अन्तरङ्ग शक्तियों और सभी बहिरङ्ग शक्तियों के रूप में वह चित् शक्ति ही पारमेश्वरी लीला के विलास की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में प्रकट होती हुई उसे पूरी तरह से निभाया करती है। प्रारम्भिक पद्य के द्वारा शैवी दीक्षा देने वाले सद्गुरू के रूप में ठहरे हुए समस्त शक्तियों के एकघन स्वरूप शिव को प्रणाम करते हुए स्तोत्र का मङ्गलाचरण इस तरह से किया गया है —

प्रपूर्य स्वातन्त्र्यादनुपम-निजानन्द-सुधया
मुहुर्नानाकारान् निज-रचित-सद्भाव-चषकान् ।
स्वमेव प्रीणानं निज-ललित-घूर्णानमतुलं
नमामो विश्वेषां विमल-चरणं दैशिकवरम् ।।१।।

परमेश्वर स्वयं विरचित नाना आकारों वाले समस्त भाव रूपी चषकों (प्यालों) को अपने स्वातन्त्र्य की लीला के सामर्थ्य से अपने अनुपम आनन्दरूपी अमृत से बार-बार भर-भर कर अपने ही आपको तृप्त और सन्तुष्ट करता रहता है। उसका वह अपना आप अत्यन्त लालित्यमय है, अनुपम है और आत्म-आनन्द की मस्ती में झूमता ही रहता है। उसके ज्ञान और क्रियारूपी दोनों ही चरण निर्मल हैं। वह

अपनी स्वातन्त्र्यलीला में मोक्षमार्गगामी सत्-साधकों के लिए स्वयं उनके गुरुओं के रूप में प्रकट होता रहता है । हम वैसे ही सद्गुरु स्वरूप परमेश्वर को प्रणाम कर रहे हैं ।

परमेश्वर ही इन समस्त भावों के रूप में प्रकट होता रहता है । अतः इन्हें आत्मसत्ता रूपी आनन्द के अमृत से भरता हुआ वस्तुतः अपने आप को ही तृप्त करता रहता है, चाहे वह कभी भी अतृप्त नहीं होता है । परिपूर्ण आनन्द उसका अपना स्वभाव है । आनन्द ही जगत् सृष्टि का मूल आधार है । आनन्द की मस्ती में परमेश्वर का जो झूमना है, वही समस्त भावों की सृष्टि का कारण है । फिर वह इन समस्तभावों को अपने से भिन्नरूपतया प्रकट करके पुनः आत्मरूपतया उनका विमर्शन करता हुआ अपने आत्मस्वरूप को ही सन्तुष्ट करता रहता है । उसकी यह संसारलीला ज्ञान और क्रिया के द्वारा चलती रहती है । तो समझिए कि वह इस लीला में ज्ञान और क्रियारूपी दो चरणों से ही विचरण करता रहता है । उसके ज्ञान में और उसकी क्रिया में भेदरूपता का मल होता ही नहीं । अतः उसके ये दोनों चरण सर्वथा निर्मल हैं । उसकी शुद्ध प्रकाशरूपता उसका ज्ञान है और वैसी ही विमर्शरूपता उसकी क्रिया है । दोनों अभेदमय होते हुए निर्मल हैं । भेदभाव ही मल कहलाता है ।

चित्शक्ति :—

स्तोत्र के दूसरे श्लोक से लेकर के छठे श्लोक तक वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग किया गया है । इन पांच श्लोकों के द्वारा परमेश्वर को पांच अन्तरङ्ग शक्तियों के स्वरूप और

स्वभाव पर संक्षेप से प्रकाश डाला गया है। उनमें से अगले श्लोक के द्वारा परमेश्वर की चित्शक्ति के विषय में इस प्रकार से कहा गया है।

प्राक् सर्गतोऽपि परतोऽपि च मध्यदेशे
सांसर्गिकेऽत्र सकले परिपूर्णरूपा ।
नैसर्गिकी परशिवाकृतिबिन्दुबीजं
वैसर्गिकी जयति शक्तिरनन्तवीर्या ॥२॥

परमेश्वर की चित्शक्ति उसका नैसर्गिक स्वभाव है अतः वह उसके लिए "नैसर्गिकी" है। वही विसर्ग को अर्थात् सृष्टि आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों को करने वाली उसकी "वैसर्गिकी" शक्ति भी है। उसी परा चित्शक्ति की जय-जयकार हो। वही उसकी सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। इस सृष्टि से पहले भी और इसके पश्चात् भी तथा भावसंसर्गमयी इस (सांसर्गिक) मध्यवर्तिनी दशा में भी वह सर्वत्र सदा परिपूर्ण ही बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि-संहार आदि लीलाओं के विचित्र विलास के सदा चलते रहने पर भी उसकी अपनी परिपूर्णता में कभी भी कोई भी अन्तर नहीं आता है। वह चित्शक्ति स्वयं परमशिवरूपिणी (परशिवाकृति) होती हुई इच्छाशक्ति के आवेश से शोभायमान विन्दु-स्वरूप शिवतत्त्व की और क्रियाशक्ति की प्रधानता को लेकर के चमकते हुए बिन्दुस्वरूप ईश्वरतत्त्व की भी बीजरूपा अवस्था (विन्दु बीजं तथा बिन्दुबीजं) है।

शैवी साधना में 'विन्दु' और "बिन्दु" ये दो पृथक् पृथक्

परिभाषाएं हैं जो दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों का बोध कराती हैं। एक परिभाषा अन्तःस्थ वकार से और दूसरी पवर्गीय बकार से आरम्भ होती है। विन्दु शिव भट्टारक का रहस्यात्मक नाम है और बिन्दु ईश्वरभट्टारक का। विन्दु का अर्थ है इच्छु अर्थात् इच्छा के आवेश से युक्त चैतन्य। विन्दु शब्द की इस प्रकार की व्याख्या तो पाणिनि के "विन्दुरिच्छुः' (अ० अ० ३-२-१६९) इस सूत्र से अभिव्यक्त होती है। तो सृष्टि करने की इच्छा से आविष्ट चैतन्य का नाम शिव है जिसे आगमिक साधना में विन्दु कहा जाता है। विन्दु शब्द की व्युत्पत्ति विद् ज्ञाने धातु से होती है। चतन्य को अर्थात् परासंवित् स्वरूप चित्शक्तिमय परमशिव को ज्ञानात्मक प्रकाश की प्रधानता को दृष्टि से ही शिव कहते हैं और विमर्शात्मिका क्रिया की प्रधानता की दृष्टि से ही उसे शक्ति कहते हैं। शिव शब्द की व्युत्पत्ति वश् कान्तौ धातु से वर्ण-विपर्यय के द्वारा होती है। कान्ति का अर्थ होता है इच्छा और तदनुसार शिव पद का तात्पर्य है सृष्टि-संहार आदि करने की इच्छा से आविष्ट चैतन्य।

बिन्दु शब्द की व्युत्पत्ति भिदिर् अवयवे धातु से होती है। अवयवन का अर्थ है भेदन, अर्थात् भेदात्मक आभास करना। 'इदं' रूपी प्रमेयात्मक विमर्श में ही भेद का आभासन होता है। भेदभाव का वह स्फुट आभासन ईश्वरतत्त्व से ही प्रारम्भ होता है। अतः ईश्वर भट्टारक ही भेदन करने वाला अधिकारी है। इसलिए आगमिक साधनाक्रम में उसे "बिन्दु" ऐसा नाम दिया गया है। ईश्वरता की स्फुट अभिव्यक्ति भी

इस प्रकार के भेद के स्फुट आभास के हो चुकने पर ही हुआ करती है। इस लिए स्फुट भेदाभास करने वाले अधिकारी को ही ईश्वर कहते हैं। उससे ऊपर के अधिकारी सदाशिव और शिव ईश्वर नहीं कहलाते हैं।

इस प्रकृत श्लोक के तीसरे चरण में समासच्छेद एक तो इस प्रकार से है—"पर शिवाकृति च तद् विन्दुबीजं (अथवा बिन्दुबीजं) च।" तब तात्पर्य यह निकलता है—चित्‌शक्ति एक ओर से "परशिवाकृति" है और दूसरी ओर से "विन्दुबीजं" तथा "बिन्दुबीजं" भी है। परमशिव तत्त्व में चित् नाम की पराशक्ति ही प्रधानतया चमकती है। उस परा चित् शक्ति को परासंवित् कहा जाता है। सवित् की प्रकाशप्रधान स्थिति को शिव कहते हैं ओर उसकी विमश-प्रधान स्थिति को शक्ति कहते हैं। अतः विन्दुस्वरूप शिवतत्त्व का बीज परा चित्‌शक्ति को ही माना गया। फिर चित्‌शक्ति के ही बहिर्मुख विकास को एक विशेष स्थिति पर बिन्दुस्वरूप ईश्वर तत्त्व की स्फुट अभिव्यक्ति हुआ करती है। अतः उस ईश्वरतत्त्वात्मक बिन्दु का भी जो मूलभूत बोज है वह चित्‌शक्ति ही है।

समासच्छेद का दूसरा प्रकार यहां यह है—"परशिवा" और "कृतिबिन्दुबीजम्" ये दो पृथक् पृथक समस्त पद हैं। इनका पुनः समास नहीं हुआ है। तदनुसार तात्पर्य यह है—वह वैसर्गिकी चित्‌शक्ति स्वयं "परशिवा" है, अर्थात् परमशिव स्वरूपिणी है। क्योंकि मूलभूता परा चित्‌शक्ति ही के एक रूपतया हो सदा चमकते रहने की स्थिति को परमशिवतत्त्व

कहते है। स्त्रीलिङ्ग में उसे ही परशिवा कहा गया है। वही परशिवरूपिणी चित्शक्ति एकाकारतया चमकती हुई भी साथ ही साथ जगत् के रूप में भी अपने आप को प्रकट करती रहती है। ऐसी पारमेश्वरी क्रिया से एक विशेष स्तर पर वह स्वयं क्रियाशक्तिप्रधान ईश्वरतत्त्व की स्थिति को ग्रहण करती है। अतः उसे "कृति-बिन्दु-बीजम" ऐसा कहा गया। तात्पर्य यह है कि कृति रूपा जो क्रियाशक्ति है वही बिन्दुस्वरूप ईश्वरतत्त्व है और उसको प्रारम्भिक बीजरूप पूर्वावस्था यह परशिवा चित्शक्ति ही है। "असौ परशिवा/कृतिरूपस्य बिन्दोर्बीजम्" इस तरह से इन पदों को व्याख्या की जा सकती है।

आनन्दशक्ति

तीसरे श्लोक के द्वारा परमेश्वर की आनन्दशक्ति नाम की दूसरी अन्तरङ्गशक्ति के स्वरूप पर इस तरह से प्रकाश डाला गया है।—

अस्मीतिमात्र-भरिताखिल-विश्व-भावा
बोधाभिनन्दन-समुच्छलितात्मरूपा ।
शान्तापि घोरतर-घोरतम-स्वरूपैर्
आभाति सङ्कुलित-पञ्चविध-प्रपञ्चा ॥३॥

परिपूर्ण अहन्ता के विमर्श से जिसने विश्वात्मक समस्त पदार्थों को भर रखा है, अर्थात् जो विश्वभर के समस्त भावों का विमर्शन एकमात्र और परिपूर्ण "अहं" इस प्रकार

के विमर्श से ही करती रहती है, फिर अपने चमत्कारात्मक स्वरूप के विमर्शन (बोधाभिनन्दन) के प्रभाव से ही जो अपने आप से अभिन्न समस्त ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को "अहं" रूप अपने आप से बाहिर भी उछाल दिया करती है, अर्थात् जो उन सभी पदार्थों के रूप में अपने आपको ही बहिर्मुखतया "इदं" इस रूप में भी प्रकट किया करती है और इस तरह से उसे बाह्य जगत् के रूप में चमका देती है। परमेश्वर की वह आनन्दशक्ति क्लेश आदि से रहित होने से अपने शान्त स्वरूप में सदैव ठहरी रहती हुई भी घोरतर और घोरतम स्वरूपों को लेकर के इस सृष्टि संहार आदि पांच प्रकार की लीला के प्रपञ्च के रूप में भी प्रकट होती ही रहती है।

सत्त्वगुणप्रधान सृष्टि शान्त सृष्टि होती है, रजोगुण प्रधान सृष्टि को घोर कहा जाता है और रजोगुण तथा तमोगुण इन दोनों की प्रबलता जिस सृष्टि में होती है उसे यहां घोरतम कहा गया है। इस संसार में पारमेश्वरी लीला के पांच मुख्य कृत्य होते हैं। वे हैं—(१) अपने में अभेदभाव में ठहरे हुए जगत् को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करना। इस कृत्य को सृष्टि कहते हैं। (२) भेदरूपतया प्रकट किए हुए जगत् को काफी समय तक टिकाए रखना और कर्मफलभोग के नियम के अनुसार इसे चलाते रहना। यह इसकी स्थिति नाम का कृत्य है। (३) तीसरा कृत्य होता है संहार। उस कृत्य को करती हुई पारमेश्वरी शक्ति कार्य-पदार्थों को उनके कारण पदार्थों में विलीन करती हुई अन्ततोगत्वा समस्त जगत् को और उसके समस्त सृष्ट तत्त्वों को सभी के मूलभूत

परमशिव तत्त्व में विलीन करती है। जगत् के स्थिति कृत्य के भीतर पारमेश्वरी शक्ति और दो कृत्यों को भी करती रहती है। वे हैं तिरोधान और अनुग्रह। (४) तिरोधान के द्वारा वह जीवों को घने से घने अज्ञान के अन्धकार की ओर धकेलती रहती है। यह है उसकी बन्धनलीला। (५) अनुग्रह-रूपिणी मुक्तिलीला में वह किसी प्राणी को मोक्षमार्ग पर चलने के प्रति एक तो उसे अन्तःप्रेरणा करती रहती है, दूसरे किसी ऐसे सद्गुरु के साथ उसका सम्पर्क करा देती है जिसके उपदेश और अनुग्रह से वह मोक्षमार्ग में सफलतापूर्वक अग्रसर होता जाता है। इन पांच कृत्यों की लीला को यहां पञ्च विध प्रपञ्च कहा गया है। इस सारे प्रपच की कलना अर्थात् आभासना परमेश्वर की क्रीडनशीला आनन्दशक्ति ही करती रहती है। आनन्द जब भीतर लहरें मारता है तभी प्राणी क्रीडा में प्रवृत्त हो जाता है। आनन्दशक्ति की क्रीडा ही सृष्टि-संहार आदि पांच कृत्यों की लीला को चलाती रहती है।

जैसे पूरी तरह से भरा हुआ जलपात्र थोडी सी भी गति-शीलता से चारों ओर छलकने लग जाता है और पानी की बूंदें उससे अलग होती जाती हैं। वैसे ही परमेश्वर की परिपूर्ण आनन्दशक्ति स्पन्दात्मक गतिशीलता से छलकती रहती है। उसकी ऐसी आनन्दरस की छलकन से छत्तीसों तत्त्व बाहर की ओर अर्थात् भेदमय क्षेत्र की ओर छलकते रहते हैं। ऐसा होते रहने पर वस्तुतः आनन्दशक्ति स्वयमेव बहिर्मुख-तया छलकती रहती है। ऐसा भाव "समुच्छलितात्मरूपा"

इस पदसन्दर्भ से अभिव्यक्त होता है।

जैसे कवि तभी काव्य रचना के प्रति प्रवृत हो जाता है जब वह अपनी कवित्व शक्ति के अन्तः विमर्शन के आनन्द से झूमने लगता है; उसी तरह से पारमेश्वरी शक्ति भी अपने दिव्यातिदिव्य सामर्थ्यों का विमर्शन करती हुई ही पञ्चविधलीला का समुच्छलन करने लग जाती है। मूल-तत्त्व शुद्ध प्रकाशरूप है जिस को चित् कहते हैं। चित्प्रकाश को सिद्धों की वाणी में बोध भी कहा जाता है। तो पारमेश्वरी पराशक्ति चित् है और चित् बोध है। वही बोधरूपिणी चित् जब अपने आनन्दरूपी नैसर्गिक स्वभाव का विमर्शन करती है तो कवि की कवित्वशक्ति की तरह बाहिर छलकने लग जाती है। चित्शक्ति के ऐसे स्वस्वभाव-विमर्शन को यहां "बोधाभिनन्दन" कहा गया है। जब उसी से आनन्द बाहर की ओर छलकने लगता है तो पांचों ही पारमेश्वरी कृत्यों का प्रपञ्च चलने लग जाता है। यह तात्पर्य है "बोधाभिनन्दनसमुच्छलितात्मरूपा" इस पंक्ति का।

इस पंक्ति के द्वारा शैवी योगसाधना के साफल्य के विषय में एक रहस्यात्मक योगज अनुभूति की ओर भी संकेत किया गया है जिसे पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय ने टीकाकार को इस प्रकार से समझा दिया था—

जब साधक को अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव की पूरी पहचान होने वाली होती है तो पहले उसका अपना

वास्तविक शुद्ध और समर्थ चिन्मय स्वरूप चमक उठता है। वैसा होने पर क्षणभर में ही उसके सभी क्लेश आदि की जड़ें भीतर से सूख ही जाती हैं। तब साधक अपने आपको तरङ्गों की हलचल से रहित एक महान् समुद्र की तरह असीम, शुद्ध तथा शान्त और समर्थ चिन्मय रूप में चेतना के अपने प्रकाश से ही स्वयं जान लेता है। योगी का अपना आप अपने ही आप का दर्शन कर जाता है। वैसा होने पर योगी अपने आप को क्लेशों से मुक्त शुद्ध और ऐसी स्वप्रकाश चेतना के रूप में साक्षात् अनुभव में पाता है जो सर्वथा असीम "अहं" इस रूप में अर्थात् स्वात्मप्रकाशमात्र के रूप में चमकती रहती है। फिर अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर उसे अपने पारमेश्वरी स्वभाव की भी अनुभूति हो जाती है कि "मैं तो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही हूं ऐसी अनुभूति में उसे अपने वास्तविक स्वभाव का ज स्फुट विमर्शन हो जाता है तो वह वस्तुतया और पूर्णतय कृतकृत्य हो जाता है। उसे ऐसा निश्चय हो जाता है कि जो स्थिति उसने प्राप्त करनी थी उसे वह प्राप्त कर गय है; अब उसे और किसी भी वस्तु या स्थिति की खोज कर की कोई भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के अप स्वरूपबोध और स्वभावबोध के विषय में कृतकृत्यताम विमर्शन को भी इस पद्य में "बोधाभिनन्दन" कहा गया है अपने बोध के उस अभिनन्दन से योगी को सारा विश्व अपना आप दीखने लग जाता है। मानो कि उसका अप आप ही उच्छलन करता हुआ, अर्थात् बाहिर छलकता हुआ

समस्त विश्व के रूप में चमक उठता है । मूलतः तो पारमेश्वरी आनन्दशक्ति ही छलकती हुई संसार के रूप में प्रकट होती रहती है। तो उस पारमेश्वरी आनन्दशक्ति को अपनी ही स्वभावभूता शक्ति के रूप में पाता हुआ योगी उसे उस छलकते हुए स्वभाव में साक्षात अनुभव में लाता हुआ सचमुच कृतकृत्य हो जाया करता है । अपने शुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप के प्रकाशमात्र से वैसी कृतकृत्यता का भाव आता नहीं और न ही सारा विश्व अपनी आनन्दशक्ति की छलकन के रूप में दीखता है । ऐसी अनुभूति तो अपने स्वभाव के पूरे विमर्शन से तथा उस विमशन के ऊपरोक्त अभिनन्दन से ही होती है । अतः पूज्यपाद आचार्य महोदय ने उस बोधाभिनन्दन का ऐसा काव्यात्मक वणन किया । बोध के इस अभिनन्दन का सुविस्तृत काव्यात्मक वर्णन एक अप्रसिद्ध शैवाचार्य ने अपने एक स्तोत्र में किया है। वह स्तोत्र है "चित्त-सन्तोष-त्रिंशिका" और कवि हैं शैवाचार्य नागार्जुन, जो माध्यमिक बौद्ध नागार्जुन से, वज्रयानी नागार्जुन से तथा रसायन विद्या के स्वामी नागार्जुन से भिन्न हैं और शैवी साधना के तथा अद्वैत-शैव-दर्शन के उपासक हैं।

इस प्रकृत पद्य में परमेश्वर की परा चित्शक्ति को ही स्तुति आनन्दशक्ति के रूप में की गई । तात्पर्य यह है कि चितशक्ति ही बहिर्मुखता के आभासन की लीला के प्रारम्भ में आनन्दशक्ति के रूप में इस इस तरह से चमकती है । आगे इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की शक्तियों के रूप में

भी परा चित्शक्ति का ही वर्णन किया जा रहा है।

इच्छाशक्ति :–

स्तोत्र के चतुर्थ पद्य के द्वारा परमेश्वर की तीसरी अन्तरंग शक्ति का निरूपण किया गया है। उस शक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं। आनन्दशक्ति ही जब लहरें मारती है तो इच्छाशक्ति के रूप को धारण करती है। आनन्द की आध्यात्मिक हलचल से अर्थात् उसके बहिर्मुख स्पन्दन से परमेश्वर के भीतर एक ऐसी उमङ्ग उठ खड़ी हो जाती है जिससे वह अपने भीतर अभेदभाव से ही विद्यमान् जगत् को भेदभाव में प्रकट करने के प्रति प्रवृत्त हो जाता है। इसी बात को इस तरह से कहा जाता है कि परमेश्वर को जगत की सृष्टि करने की इच्छा हो जाती है। तो पारमेश्वरी चित् शक्ति का स्वभाव उसकी आनन्दशक्ति है और वही आनन्दशक्ति इस सिसृक्षारूपिणी इच्छाशक्ति के रूप में प्रकट होती रहती है और उसी की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति से परमेश्वर की चिद्रूपता के भीतर ही स्रष्टव्य जगत् का पहले तो धीमा सा आभास हो जाता है और वही पश्चात् स्फुट हो जाता है। इस तरह से स्रष्टव्य जगत की रूपरेखा परमेश्वर के चिन्मय स्वरूप के भीतर चमक उठती है। ऐसी दशा को सिद्धों की परिभाषा में शुद्धविद्या की दशा कहा जाता है। चौथी और पांचवीं अन्तरङ्ग शक्ति की प्रधानता इस शुद्धविद्या ही के क्षेत्र में चमक उठती है। उसी शुद्धविद्या की अनुभूति के आधार पर इस स्तोत्र में उन दो शक्तियों का वर्णन पांचवें और छठे श्लोक में किया

जा रहा है । ये दोनों शक्तियां जिस अन्तरङ्ग शक्ति के भीतर समायी रहती हैं और जिसके बहिर्मुखी विकास में बीज में से प्रकट होने वाले दो दलों की तरह प्रकट हो जाती रहती हैं, उस इच्छा नाम की शक्ति का निरूपण इस चौथे पद्य के द्वारा इस तरह से किया गया है – :

यस्याः स्वतन्त्रकलनाकलिता विचित्रा
ज्ञानावलीवलयमूलमतीव सूक्ष्मा ।
इच्छाभिधा हृदि झगित्यवभासमाना
नित्या विराजतितरां शिवभूतिभूता ॥४॥

कलना अवभासन करने की क्रिया को कहते हैं । परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से भेद में भी अभेद का अवभासन करता है और आभासमान भेद में भी पुनः अभेद को चमका देता है । उसकी यह कलनात्मिका शक्ति स्वतन्त्र है । यह किसी भी वस्तु या नियम के अधीन नहीं है । इसे किसी माया जैसी उपाधि की भी आवश्यकता नहीं । यह अपने स्वातन्त्र्य से ही ऊपरोक्त असम्भव बातों का भी अवभासन करती रहती है । परमेश्वर की इस कलना करने की सामर्थ्य को ही शास्त्रों में काली कहा गया है । यह काली ही वस्तुतः चित् नाम की पराशक्ति है । वही अपने आनन्दमय स्वभाव से बहिर्मुख स्पन्दन करती हुई सृष्टि संहार आदि का अवभासन करने की उमङ्ग बन जाती है । सिसृक्षामयी उस पारमेश्वरी उमङ्ग का नाम इच्छाशक्ति है । इस तरह से चित् अपनी स्वतन्त्र कलना से ही जिस तीसरी शक्ति की कलना करती

है उसका नाम इच्छाशक्ति है। समासच्छेद ऐसा बनता है – "स्वतन्त्रकलनया कलिता।" यह तृतीया तत्पुरुष है। इस तरह से कलित होने वाली वह इच्छा नाम की शक्ति वस्तुतः अविचित्रा, अर्थात एकरूपा होती हुई भी विचित्रा है, क्योंकि विचित्र आकारों वाले पदार्थों की सृष्टि उसी से होती है यहां "...... कलिताऽविचित्रा', इस तरह से भी सन्धिच्छेद है और "......कलिता विचित्रा" इस तरह से सन्धिरहित दो पद भी हैं फिर वह इच्छाशक्ति वस्तुतः "अकलिता" है क्योंकि इच्छा-प्रधान तत्त्व शक्तितत्त्व होता है। शक्ति और शिव दोनों अभिन्न हैं और परमार्थसत्य हैं। वे सृष्ट तत्त्व न होते हुए नित्य सत्य तत्त्व हैं। जिन तत्त्वों की सृष्टि हुआ करती है वे सद शिव तत्त्व से पृथ्वीतत्त्व तक के चौंतीस ही तत्त्व हैं। अतः शक्तितत्त्व-रूपिणी इच्छाशक्ति वस्तुतः "अकलिता" ही है। उसकी कलना केवल कहने सुनने में ही आती है, काल्पनिक है और परतत्त्व के स्वभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए उसे कल्पना के द्वारा ठहराया गया है। इस दृष्टि से वही स्वतन्त्र कलनाशक्ति है और अकलिता है। (स्वतन्त्रकलना + अकलिता) है।

चित्‌शक्ति की स्वभावभूता आनन्दशक्ति इस तरह से इच्छाशक्ति के रूप को धारण करती है। वही इच्छाशक्ति आगे बहिर्मुखतया स्पन्दन करती हुई ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप को धारण करती है। इस तरह से उसका अगला विकास अनन्त-प्रपञ्चमयी ज्ञानशक्ति के रूप में हुआ करता है। इसलिए उसका वर्णन ऐसे किया गया है कि

अनेकों ज्ञानों की श्रेणी के मण्डल का वह मूल है, अर्थात् उनके आविर्भाव का स्थान है, उनकी बीजात्मिका प्रागवस्था है। इसीलिए अतीव सूक्ष्मा है। फिर उदय होते समय इच्छा इसलिए भी अतीव सूक्ष्म होती है कि अभी ऐष्टव्य अर्थात् इच्छा के विषय बनने वाले एषणीय पदार्थों के सम्पर्क से शून्य केवल इच्छामात्र ही उसका रूप होता है। यह इच्छा नाम का शक्ति योगियों के हृदय में पहलेपहल बिजली की आकस्मिक चमक की तरह झट से चमकती है और क्षणभर में पुनः छिप जाती है। फिर वैसे चमकती हुई प्रमाता की अन्तर्मुखी दृष्टि को अपने वैचित्र्य की महिमा से चकाचौंध सा कर देती है. ''झगित्यवभासमाना'' का यही तात्पर्य है। यह अनिरुद्ध इच्छा शक्ति शिव में सदैव रहती है और सदैव काम भी करती रहती है। इसलिए इसे 'नित्या' कहा गया। फिर शिव की विभूति इस इच्छाशक्ति में ही निहित है क्योंकि इसी के सहारे वह कुछ कर सकता है। यही शिव की शिवता या उसकी परमेश्वरता है। यह इच्छाशक्ति सदैव शिव के भीतर उसकी परमेश्वरतारूपिणी विभूति बन कर रहती है। यदि शिव में इच्छाशक्ति न होती तो वह जगत्सृष्टि करता ही नहीं। तब जगत् होता ही नहीं। एकमात्र भयानक अभावात्मक महान् और निरवधि शून्य ही शून्य होता। वैसी स्थिति में परमेश्वरता के होने और न होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। परमेश्वरता के न होने की शङ्का भी कहीं नहीं होती और उसके होने के विषय में शङ्का-समाधान भी कौन करता। अतः शिव की विभूति

उसकी यह इच्छाशक्ति ही है।

ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति में ज्ञेय पदार्थ का धोमा सा चित्र खिच जाता है। फिर जब क्रियाशक्ति के द्वारा उस पदार्थ की अन्तसृष्टि हो जाती है तो वह पदार्थ एक सामान्याकार स्फुट चित्र की तरह चित्प्रकाश के भीतर केवल 'इदं" के रूप में स्पष्टता से चमक उठता है। परन्तु इच्छाशक्ति के प्रारम्भिक स्पन्दन में स्रष्टव्य विषय का चित्र जरा भर भी नहीं खिच जाता है। उस स्पन्दन में इच्छा केवल एक ऐसी उमङ्ग होती है जिसमें उस उमङ्ग के विषय का आभास अभी हुआ ही नहीं होता है। उस स्पन्दन में वह इच्छा केवल आनन्द की तीव्र हलचल ही के रूप में चमकती रहती है। अतः वह "अविचित्रा" अर्थात् एकरूपा है। यहां सन्धिच्छेद "स्वतन्त्रकलनाकलिता + अविचित्रा" ऐसा भी हो सकता है। इस तरह से उसमें एषणीय विषय का अभी कोई चित्र खिचा ही नहीं होता है। अतः उसे इस अभिप्राय से भी "विचित्रा" कहा गया। व्याख्या ऐसे है—"विगतचित्रा, विगतं चित्रणं यस्याः सा।" तात्पर्य है विषय-चित्र से रहित इच्छ मात्र। इसीलिए इसे अतीव सूक्ष्मा कहा गया। फिर यह इच्छा शिव को शक्ति-अवस्था है। वह शक्ति शिव-रूपिणी है। अतः शक्ति तत्त्वरूपिणी यह इच्छा नित्या है, अर्थात् एक नित्य तत्त्व है, कोई सृष्ट तत्त्व नहीं है। फिर अतीव अद्भुत होने के कारण और विचित्र सृष्टि को करने के कारण इसे विचित्रा भी कहा गया। यह इच्छा किसी विषय की इच्छा नहीं है। अतः कोई अपूर्णता को जतलाने

वाली अभिलाषा नहीं है, न ही किसी कुण्ठा को व्यक्त करने वाली कोई स्पृहा है। यह तो अपने स्वभाव को अभिव्यक्त करने वाली परमेश्वर की परमेश्वरतारूपिणी उमङ्ग है जो उसका नैसर्गिक स्वभाव है। इस पारमेश्वरी उमङ्ग के विषय में उपनिषद् वाक्य भी ऐसा ही कहते हैं जो पीछे उद्धृत किए गए हैं। इन वाक्यों में भी "ऐक्षत" का अर्थ कलना करने की ऐसी इच्छा ही है।

कलना का अर्थ अपने स्वातन्त्र्य से प्रतिबिम्ब न्याय से जगत् को, अपने में आभासित करना है। कलना और वस्तु है और कल्पना और वस्तु है। कल्पना अन्तःकरण के द्वारा होती है और वह जीव का स्वभाव है। कलना केवल ऐसी अवभासना होती है जो चित्तत्त्व के भीतर केवल उसकी स्वतन्त्र इच्छा से ही प्रतिबिम्बवत् प्रकट हो जाती है।

ज्ञानशक्ति :–

पांचवें पद्य में परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का वर्णन किया जा रहा है। ज्ञानशक्ति को बहिर्मुख अभिव्यक्ति सदाशिव-तत्त्व में हुआ करती है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा स्रष्टव्य जगत के सामान्य आकार की, अर्थात् इदंभावमात्र की, प्रमेयता की और विषयता की धीमी सी अभिव्यक्ति शुद्ध चैतन्य के भीतर ही हुआ करती है। इच्छाशक्ति ही अपने बहिर्मुख स्पन्दन से सदाशिव दशा के रूप में प्रकट हो जाती है अतः ज्ञानशक्ति भी इच्छाशक्ति का ही एक बहिर्मुख स्पन्दन है मूलतः ये सभी शक्तियां परा चित्शक्ति ही के

भिन्न-भिन्न विकसित रूप हैं। अतः इस स्तोत्र में परा चित्-शक्ति का ही गुणगान इन सभी अन्तरङ्ग शक्तियों के रूप में किया गया है। प्रकृत पद्य में ज्ञानशक्ति का वैसा वर्णन इस तरह से किया गया है—

यावत्-क्रिया-प्रचय-पुष्टि-निदान-भूता
ज्ञानाभिधा शिवतनूः श्रुति-शास्त्र-मूलम् ।
इच्छाविकास-फलितं हृदयं क्रियायाः ।
सर्वत्र या विजयतेऽवतु सा समस्तम् ।।५।।

यह सारे का सारा सुविशाल संसार परमेश्वर की क्रिया-शक्ति की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का परिपूर्ण विकास है। अतः इसे क्रिया के प्रचय अर्थात् वृद्धि की पुष्टि कहा गया। जितनी भी "क्रिया के प्रचय की यह पुष्टि" है उसका निदान, अर्थात् बीजभूत कारण परमेश्वर की ज्ञानशक्ति ही है जो क्रियाशक्ति के रूप को अपने बहिर्मुख स्पन्दन के द्वारा धारण करती है। यद्यपि ज्ञान और क्रिया की स्थिति इच्छा रूपी बीज से प्रकट होने वाले दो दलों की जैसी ही हुआ करती है फिर भी ज्ञान में स्रष्टव्य जगत् का धीमा सा ही आभास होता है और क्रिया में वह आभास स्फुटता को प्राप्त करता है। अतः जगद्विकास की दृष्टि से ज्ञानशक्ति का स्थान इच्छाशक्ति के पश्चात् और क्रियाशक्ति से पहले माना गया है। इस विचार के अनुसार ही ऐसा वर्णन किया गया है कि ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति से अभिव्यक्त होकर क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का कारण बन जाती है।

यह विचार इस तरह से स्पष्ट हो जाता है । माया क्षेत्र के प्राणी कुछ करने से पहले किए जाने वाले विषय को अपनी कल्पना के द्वारा अपने भीतर चमकाते हुए अपने आपको उसका ज्ञान करा देते हैं। इस तरह से ज्ञान क्रिया का पूर्वरूप बन जाता है । जिसे किया जाता है उसे उससे पहले कल्पना के क्षेत्र में जाना जाता है। परमेश्वर भी अपने भीतर स्रष्टव्य विषयरूपी सामान्याकार "इदं" रूपी जगत् को स्पष्टतया प्रकट करने से पहले उसके धीमे से आभास को अपने चिन्मय स्वरूप के भीतर चमका देते हैं । स्रष्टव्य इदं-रूप जगत् को चिद्रूप अहं के भीतर स्पष्टतया चमका देने को चमकाने की क्रिया कहते है और उस इदंरूप जगत् के धीमे से आभासन मात्र का उसका ज्ञान कहते हैं । इस तरह से इच्छाशक्ति के बहिर्मुख परिस्पन्दन से पहले पहल जगत का "इदं" इस प्रकार का धीमा सा आभास मात्र हो जाता है, जिसे उसका ज्ञान कहा जाता है और पश्चात् उसकी स्फुट-तया अभिव्यक्ति होती है, जिसे सृष्टि की क्रिया कहते हैं । इस तरह से क्रियाशक्ति का पूर्वरूप ज्ञानशक्ति है । इस दृष्टि से यहां ज्ञानशक्ति को क्रियाशक्ति की वृद्धि की पुष्टि का साक्षात् कारण कहा गया । यह ज्ञान-शक्ति शिव का एक प्रमुख शरीर है। इसलिए इसे "शिवतनूः" कहा गया है । सदाशिव भट्टारक में परमेश्वर के पांच पारमेश्वरी कृत्यों में से अनुग्रहकृत्य ही विशेषतया परिपुष्ट होता रहता है। अतः भगवान् सदाशिव के मुख्य अधिकार में प्राणियों को मोक्षमार्ग की ओर लगा देने वाली अनुग्रह लीला हो

विशेषतया चमक उठती है। अनुग्रह का एक महत्त्व पूर्ण उपाय होता है यौगिक अनुभव रूपी पारमेश्वर ज्ञान, जिसे श्रुति कहते हैं और दूसरा उपाय होता है श्रुति के अनुकूल निर्मित शास्त्र। अत: अनुग्रहशीला ज्ञान-शक्ति ही सतश्रुतियों का और सत्शास्त्रों का मूल कारण है तभी तो उसके गीत गाते हुए कहा गया कि यह श्रुतियों और शास्त्रों का मूल है। फिर यह ज्ञानशक्ति भी शिव का ही एक शरीर है। इच्छाशक्ति का बहिर्मुख विकास ही ज्ञानशक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुआ करता है। इसलिए ज्ञानशक्ति को यहां इच्छाशक्ति के बहिर्मुख विकास का फल बताया गया। फिर ज्ञानशक्ति ही जब जरा स्थूलता को प्राप्त करती है तो क्रिया बन जाती है। हम लोग जिस बात का ज्ञानमय सङ्कल्प मन में करते हैं, उसी को प्राय: शरीर की चेष्टाओं के द्वारा प्रकट करके दिखाया करते हैं। इसीलिए क्रिया को ज्ञान का घनीभाव कहा गया है और ज्ञान को क्रिया का द्रवीभाव। तो ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति का आन्तर स्वरूप है। इसी लिए उसे यहां क्रिया का हृदय कहा गया।

परमेश्वर की पांच पारमेश्वरी लीलाओं में से सबसे अधिक महत्त्व की तथा सर्वाधिक आनन्ददायिनी लीला तो अनुग्रह लीला ही है जिससे परिपूर्ण आनन्द का आस्वाद सुलभ हो जाता है। इसलिए उसके विषय में एक तो यह कहा गया कि सर्वत्र उसी की विजय है, अर्थात् वही सर्वोत्कृष्ट लीला है, (सर्वत्र या विजयते), और दूसरे यह प्रार्थना की गई कि वह समस्त विश्व का कल्याण करे (अवतु सा समस्तम्)।

क्रियाशक्ति :—

छठे श्लोक के द्वारा परमेश्वर की क्रियाशक्ति पर इस तरह से प्रकाश डाला गया है –

आब्रह्म-कीट-हृदयेष्वनुभूयमाना
सर्वेषु कार्यकरणेषु विराजमाना ।
शम्भो: प्रसिद्धतम-वर्ष्म-विकास-भूमि:
प्रीणातु सन्ततमियं सुभगा क्रियाख्या ।।६।।

ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़ तक के सभी प्राणी चेतना की स्पन्दनात्मिका क्रिया का अनुभव अपने आप ही अपने-अपने हृदय में करते ही रहते हैं, क्योंकि सभी अपने आपको और अपनी निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता को जानते ही रहते हैं, अर्थात् उसका विमर्शन "अहं" इस रूप में सदा करते ही रहते हैं। चैतन्य की यह स्वात्म-विमर्शन-रूपिणी क्रिया किस छोटे या बड़े प्राणी में नहीं चलती रहती है ? फिर यह चैतन्य के अनुग्रह से शरीर, इन्द्रिय, अन्त:करण जैसे जड पदार्थों में भी आविष्ट होकर वहां स्फुटता से अभिव्यक्त चैतन्य के रूप को लेकर के शोभायमान होती रहती है। परम्परया जड कार्य द्रव्य भी क्रियावान् बनकर शोभा पाते हैं। जैसे रथ चलता है, पहिया घूम रहा है, सांवला घड़ा लाल हो रहा है, खाया हुआ अन्न ठीक पच रहा है, श्वास, प्रश्वास आराम से चल रहे हैं, इत्यादि। यहां तक श्लोक की दो पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट हो गया।

भगवान् शिव दो रूपों में प्रसिद्ध हैं। एक है उनका अपरिमित परमेश्वरता वाला परस्वरूप और दूसरा है पुराणों, इतिहासों और लोकपरम्पराओं में प्रसिद्ध तीन नेत्रों वाला कैलासवासी उमापतिनाथ नाम का स्वरूप। शिव के परमेश्वरतात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति तभी होती है जब वह सृष्टि आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों को करता है। उन कृत्यों का प्रदर्शनात्मक स्फुट आभासन उनकी स्पन्दनात्मिका क्रियाशक्ति ही मुख्यतया किया करती है। अतः शिवजी के परमेश्वरतात्मक स्वरूप को विकास में ले आने का आधार उनकी परा पारमेश्वरी शक्ति तभी बन जाती है जब वह विकसित क्रियाशक्ति के रूप को धारण करती है। उससे पहले स्रष्टव्य जगत् का स्फुट आभास ही नहीं होने पाता। उसका स्फुट आभास ही उसकी प्रारम्भिक सृष्टि कहलाती है। वह सृष्टि ईश्वरतत्त्व के भीतर हुआ करती है और वहां इसी कारण से होती है कि परमेश्वर की क्रिया नामवाली पांचवीं अन्तरङ्ग शक्ति उसी तत्त्व के भीतर प्रधानतया अभिव्यक्त हुआ करती है। इसीलिए उसी तत्त्व के अधिपति को ईश्वर भट्टारक कहते हैं। उस तत्त्व से ऊपर स्थित तत्त्वों के अधिपति ईश्वर नहीं कहलाते। उन्हें सदाशिव, अनाश्रित शिव, शक्ति, शिव ये ही नाम दिए गए हैं। ईश्वरता की विशेषतया स्फुट अभिव्यक्ति आगे माया, प्रकृति और पृथ्वी नाम के तीन क्षेत्रों में हुआ करती है। उन उन क्षेत्रों के अधिपति वहां वहां भी अपनी क्रियाशक्ति के ही बल से ईश्वरता को स्फुटतया अभिव्यक्त करते रहते हैं। तो वहां भी परमेश्वरता के स्फुट-

विकास की भूमि यह क्रियाशक्ति ही है।

पुराणों आदि में वर्णित कैलासवासी शिव का जो ऊपरावत दूसरा सुप्रसिद्ध त्रिनेत्र, नीलकण्ठ, कपर्दी, चन्द्रशेखर, गङ्गाधर, कृत्तिवासा आदि विशेषणों वाला सुविख्यात शरीर है उसके विकास की भूमि भी क्रियाशक्ति ही है। क्रियाशक्ति प्रधानतया ईश्वरभट्टारक के भीतर ही अभिव्यक्त होती है। उनसे ऊपर के अधिकारियों में क्रम से ज्ञान, इच्छा और आनन्द नामक शक्तियों की ही प्रधानता चमकती रहती है। वे ईश्वर-भट्टारक अपनी क्रियाशक्ति को बहिर्मुखतया विकास में लाते हुए ही माया के भीतर भगवान् अनन्तनाथ के रूप को और प्रकृति के भीतर भगवान् श्रीकण्ठनाथ और भगवान् उमापतिनाथ के रूपों को धारण करते हैं। इस तरह से ये तीनों ही अधिकारी ईश्वरभट्टारक के तीन अवतार हैं जिनके रूपों में वे अपनी क्रियाशक्ति के बल से ही प्रकट होते रहते हैं। भगवान् अनन्तनाथ क्रियाशील बनते हुए माया से काल आदि पांच सूक्ष्मतर तत्त्वों को और पुरुषतत्त्व तथा प्रकृति-तत्त्व को भी विकास में ले आते हैं। प्रकृति तत्त्व में गुणवैषम्य के द्वारा शेष तत्त्वों को विकास में लाने वाले अधिकारी श्री उमापतिनाथ हैं। उनके ही अन्तर्मुखता में ठहरे हुए शरीर को श्रीकण्ठनाथ कहा गया है। भगवान् शिव के इन सभी प्रसिद्ध शरीरों के विकास की भूमि उनकी क्रियाशक्ति ही है, क्योंकि वही शक्ति भेदमयी सृष्टि को विकास में लाया करती है। उसी प्रयोजन के लिए वह इन तीन दिव्य शरीरों को धारण करती है।

परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण चिन्मात्र रूप में वह सौन्दर्य और वह सौभाग्य नहीं जो उनके इस विश्वात्मक स्वरूप में है जहां उनकी क्रियाशक्ति पांचों कृत्यों की लीला का अभिनय करती हुई परमेश्वरता को पूरे निखार से चमकाए रखती है। इसलिए इसे ही "सुभगा" कहा गया और इसी के प्रति यह प्रार्थना की गई कि यह हम पर प्रसन्न हो जाए, क्योंकि पांचों पारमेश्वरी कृत्यों को चलाए रखने वाली परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही हमारे ऊपर अनुग्रहलीला के अमृत की वर्षा कर सकती है। फिर यह प्रार्थना की गई है कि उसकी वह अनुग्रहलीला हमारे ऊपर सतत गति से (सन्ततं) चलती ही रहे।

कारण तत्वों में सिद्धसम्प्रदाय के भीतर तीन अन्तःकरण, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय गिने जाते हैं और कार्य तत्त्वों में पांच शब्द आदि सूक्ष्म तन्मात्र तत्त्व और पांच आकाश आदि स्थूल भूततत्त्व। इन सभी के रूप में परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही अपनी विलासमयी लीला का अभिनय करती रहती है।

पराशक्ति :—

सातवें श्लोक के द्वारा पारमेश्वरी पराशक्ति की ही स्तुति उसके कई एक प्रकार के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के विलासों को लेकर के की गई है। इस श्लोक में पुनः शिखरिणी छन्द का ही प्रयोग किया गया है। वह श्लोक यह है—

चिदानन्दाशंसा-विदिक्कृतिमयी भावसुभगा
कला धन्या कन्या जयकृतिरनन्या शिवगुरोः ।
दधानैन्द्रीं भूतिं हिमकिरणशौक्लीं तनुरुचिं
प्रभां सौरीं सोमामृतकवलिनी पातु जयिनी ॥७॥

पारमेश्वरी पराशक्ति का स्वरूप चिन्मय है और आनन्दमयता उस चिद्रूपता का स्वभाव है। अतः उस शक्ति की आशंसा अर्थात् उसका नाम चिदानन्द है। फिर उसके स्वरूप के दो पहलू हैं प्रकाशरूपी ज्ञानमय पहलू और विमर्शरूपी क्रियात्मक पहलू। अत: उसे "विदिक्कृतिमयी" अर्थात ज्ञान-क्रियामयी माना और जाना गया है। परासंवित, जिसे परमशिव कहा जाता है, वह प्रकाशविमर्शमयी है। प्रकाशरूपता से वह ज्ञानमयी है और विमर्शरूपता से क्रियामयी है। शिवतत्त्व प्रकाशप्रधान होता हुआ विमर्शात्मक भी तो है ही। इसी तरह से विमर्शप्रधान शक्तितत्त्व भी प्रकाशात्मक होता ही है। अत: अभेदमय क्षेत्र के ये तीनों तत्त्व ज्ञानक्रियात्मक हैं। प्रकाशमयता ज्ञानात्मकता है और विमर्शात्मकता क्रियारूपता है। सदाशिव तत्त्व ज्ञानशक्ति प्रधान है। परन्तु उसमें भी क्रिया का अंश गौण बनकर रहता ही है। इसी तरह से ईश्वरतत्त्व भी ज्ञान क्रियात्मक है। मायीय सृष्टि तो क्रियाशक्ति का विस्तृत विकास है, परन्तु इसमें क्रिया सर्वत्र ज्ञान के द्वारा अनुस्यूत ही बनी रहती है। इस तरह से पराशक्ति इस सारे के सारे प्रपंच में सर्वत्र ज्ञान क्रियामयी बनी ही रहती है। इसी से तो वह अतीव सुन्दर है। (विदिक्कृतिमयीभावेन

सुभगा) ऐसा समास विग्रह बनता है।

फिर समस्त जगद्रूप भावों के आभासन की लीला से वह अत्यन्त सुन्दर "सुभगा" बनी हुई है। पहली पंक्ति की एक व्याख्या ऐसी है। दूसरी व्याख्या और प्रकार से भी की जाती है। वह यह है—पारमेश्वरी पराशक्ति पांच शक्तियों के भावों को, अर्थात् तद्रूपिणी सत्ता को लेकर के अतीव सुभगा बनी रहती है। यदि इन भावों को लेकर के नहीं चमकती रहती तो उसका सौन्दर्य ज़रा भर भी निखर नहीं सकता। उन पांच शक्तियों के नाम हैं चित्, आनन्द, आशंसा अर्थात् इच्छा, विदि=ज्ञान और कृति=क्रिया। इन रूपों में प्रकट होती हुई ही वह सुभगा है। समासच्छेद आदि ऐसे होगा—(चिच्च, आनन्दश्च, आशंसा च, विदिश्च, कृतिश्चेति=चिदानन्दाशंसाविदिकृतयः; तन्मयीभावेन सुभगा=पञ्चशक्ति-भावतयाऽवभासमानत्वेनैव सुभगा इति)।

यह पराशक्ति ही गुरुओं के भी मूल गुरु भगवान् शिव-भट्टारक की कला है, अर्थात् उसकी वह कलनसामर्थ्य है जिससे वह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणरूपी त्रिकोणमय इस समस्त प्रपञ्च के सृष्टि संहार आदि की कलना अर्थात् आभासना करता ही रहता है। फिर उसको यह पराशक्ति ही धन्य है, क्योंकि इसी की महिमा से वह शिवगुरु परमेश्वर है। फिर यह कन्या है—समस्त प्रपञ्च को जन्म देती हुई भी कन्याभाव में ही सदा स्थिरतया ठहरी रहती है। इसीलिए शिवसूत्र में इसके इच्छात्मक अन्तरङ्गरूप के विषय में कहा गया है—

"इच्छाशक्ति रुमा कुमारी" (शि० सू १-१३) फिर उस शिवगुरु के लिए यह सदैव कमनोया भी है। तभी तो शङ्कराचार्य भी कह गए हैं, "भगवान् शिव अपना प्रभाव तभी जमाता है जब वह शक्ति से युक्त होता है। यदि वह ऐसा नहीं होता तो वह ज़रा भर स्पन्दन भी नहीं कर सकता।"

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥"

(सौ० ल० १)

यदि शिव जयशील है, अर्थात् सबसे अधिक उत्कर्ष की स्थिति में सदा ठहरा रहता है, तो वह इस शक्ति की ही महिमा है। यही उसको उत्कर्ष देने वाली (जयकृतिः) है। फिर यह शिवरूपिणी है, उससे भिन्न नहीं है, उससे "अनन्या" है।

योगियों को अपने नाडीचक्र के भीतर इस चित्शक्ति के दर्शन ऊर्ध्वकुण्डलिनी के तीन चक्रों में तीन प्रकार से हुआ करते हैं। वे भ्रूमध्य में इन्द्रधनुष की कान्ति के रूप में, सहस्रार चक्र में चन्द्रमा की जैसी स्निग्ध आभामयी चांदनी के रूप में और हृदय में सूर्य की जैसी तेजस्विनो प्रभा के रूप में इस पराशक्ति को देखा करते हैं। इसी बात को लेकर के तोसरी और चौथी पंक्तियों में कहा गया है कि यह पराशक्ति इन्द्रधनुष के जैसे प्रकाश को, शीतकिरण चन्द्रमा की जैसी श्वेतवर्ण कान्ति को और सूर्य की जैसी सौरी प्रभा को धारण करती रहती है।

इस तीसरी पंक्ति में पाठभेद भी है । तदनुसार 'दधाना' पद के स्थान पर 'ददाना' पद है । उस दृष्टि से अर्थ यह है– यह परा पारमेश्वरी शक्ति देवी अपने उपासकों को इन्द्र की जैसी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य दे दिया करती है, फिर उन्हें चन्द्रमा की जैसी धवल शरीरकान्ति भी देती है और साथ ही उन्हें सूर्य की जैसी तेजस्विता भी प्रदान करती है ।

कुण्डलिनी योग की सिद्धि से सम्पन्न योगीजन यह भी अनुभव क ते हैं कि उनकी चेतनाशक्ति प्राणवृत्ति के रूप में, अर्थात् प्राणकुण्डलिनी के रूप में काम करती हुई सहस्रार-चक्रस्थ चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान करती रहती है । इस तरह की सर्वत्र प्रभावशीला चित्‌शक्ति के विषय में अन्ततोगत्वा यह कहा गया है कि यही जयिनी है, अर्थात् सर्वोत्कर्षवाली है । अतः साथ ही उसी से प्रार्थना भी की गई है कि वही हमारी पालना करे, अर्थात् जीवन के सभी फलों के देते हुए हमें पूरी तरह से कृतकृत्य कर देवे ।

धर्माचार्यकृत पञ्चस्तवी के लघुस्तव नाम के प्रथम स्तोत्र में भी पराशक्ति के ऊपरोक्त तीन प्रकार के दर्शनों का स्पष्ट वर्णन किया गया है । वहां स्तोत्र के अन्त पर देवी उपासना के तीन रहस्यमय बीजमन्त्रों के प्रति भी स्पष्ट निर्देश किया गया है । यहां भी श्लोक के उत्तरार्द्ध में तीसरा तेरहवां और बीसवां, ये तीन अक्षर उन तीन बीजों के प्रति सङ्केत कर रहे हैं । वे तीन बीज वाग्भव, कामराज और शक्ति-बीज कहलाते हैं । पहला तो सानुस्वार द्वादश वर्ण है, दूसरा ककार लकार युक्त चतुर्थ सानुस्वार स्वर है । यह

उस बीज का सकल रूप है। और तीसरा बीज तृतीय ऊष्म के साथ चतुर्दश सविसर्ग स्वर से बनता है । उस तृतीय बीज के साथ वहां निष्कला कामकला भी जुड़ी हुई है । जिसका वर्णन शङ्कराचार्य ने "मुखं बिन्दुं कृत्वा" इत्यादि श्लोक के द्वारा सौन्दर्यलहरी में किया है । पूज्यपाद जी ने इन तीन बीजमन्त्रों का स्तुत्यात्मक वर्णन अपने "मन्दाक्रान्ता-स्तोत्र" में विस्तार से किया है।

उपसंहार :—

आठवें पद्य में पृथ्वीछन्द का प्रयोग करते हुए इस स्तोत्र का उपसंहार किया गया है—

महानुभवसंस्तुतां महित-बिन्दु-मध्य-स्थितां
महार्थ-मणि-मेखलां मदनसूदनानन्दिनीम् ।
महामृतमदं श्रयन् विजयते स्तुवन् सम्मदाद्
महामहिम-मण्डितोऽप्यमृतवाग्भवः पण्डितः ॥८॥

पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय को जो स्वात्मस्वरूपा परा चित्शक्ति का अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ, उसी को यहां महान् अनुभव शब्द से कहा गया है । वह अपरोक्ष महान् अनुभूति ही जगदम्बा की सर्वोत्तम स्तुति है। उस स्तुति के द्वारा उसका स्तवन तो पहले ही हो चुका है । इसलिए कहा गया कि महान् अनुभव के द्वारा जिस पराशक्ति की ठीक तरह से स्तुति की जा चुकी है। सिद्धों के उपासना क्रम में एक विशिष्ट साधना होती है श्रीचक्र की पूजा । श्रीचक्र

एक यन्त्र होता है जिसके मध्य में एक विन्दु होता है । उसे एक त्रिकोण घेरे रखता है। उस त्रिकोण के भी चारों ओर छोटे बड़े त्रिकोणों के कई मण्डल होते हैं । उन्हें तीन मण्डलाकार रेखाएं घेरे रखती हैं । उनके भी चारों ओर तीन सीधी रेखाएं खिची रहती हैं जिनके मध्य भाग में चार द्वार जैसे होते हैं। इस चक्र का वर्णन सौन्दर्यलहरी के दो श्लोकों में भो किया गया है । उनमें से एक है "सुधासिन्धोर्मध्ये" इत्यादि (सौ० ल० ८) और दूसरा है "चतुर्भिः श्रीकण्ठैः" इत्यादि (तदेव ११)। इस प्रकृत श्लोक में देवी का वर्णन श्रीचक्र को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार से किया गया है कि वह श्रीचक्र के उस मध्य बिन्दु के वीच में (चिदानन्द की लहर के रूप में) ठहरी रहती है जिस बिन्दु की पूजा सिद्धजन करते आए हैं। फिर यह भी कहा गया है कि चारों ओर विद्यमान त्रिकोण मण्डलियां ही देवी पराशक्ति की बहुमूल्य रत्नों से बनो हुई मेखला है । श्रीचक्र के उपासक ऐसी भावना करते हैं कि उस मध्य बिन्दु के भीतर एक पलङ्ग है जिसके चार पावे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर भट्टारक है और जिसका ऊपरी फलक (फट्टा) सदाशिव-भट्टारक है। उस पलङ्ग के ऊपर भगवान कामेश्वर शिव बैठे हैं और उनकी गोद में भगवती पराशक्ति ललिता त्रिपुर-सुन्दरी विराजमान हैं। साधना में किए जाने वाली इस प्रकार की भावना की ही दृष्टि से इस श्लोक में देवी का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि वह कामदेव को भस्म करने वाले शिव को आनन्द देने वाली उनकी प्रियतमा है, क्योंकि

शिव को यदि अपने में ही एक असीम आनन्द आता है तो वह इस विमश से ही आता है कि मुझ में असम्भव को भी सम्भव बनाने वाली परा पारमेश्वरी शक्ति है। शिव के इस स्वशक्तिविमर्श में उसकी पराशक्ति उसकी स्वात्मावमशमयी दृष्टि के सामने आती रहती है । इसी आध्यात्मिक सत्य-सिद्धान्त को काव्यात्मक शली में शिव और शक्ति का परस्पर साम्मुख्य या संघट्ट कहा जाता है। इसी संघट्ट के भीतर वह अनवच्छिन्न और सर्वथा असीम आत्म-आनन्द लहरें मारता रहता है, जिसे सिद्धों की परिभाषा के अनुसार जगदानन्द कहते हैं। उसी जगदानन्द की केन्द्रभूता पराशक्ति के विषय में ऐसे आध्यात्मिक दर्शन सिद्धान्त की ओर "मदनसूदनानन्दिनीम्" इस विशेषणात्मक समस्तपद के द्वारा यहां संकेत किया गया है।

जगदम्बा पराशक्ति के विषय में ऐसे दर्शनसिद्धान्त की साक्षात् अनुभूति से पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय को जो एक महान आनन्द की मस्ती का अनुभव हुआ, उसी के विषय में यहां यह कहा गया कि वे महान अमृत के पीने से उद्बुद्ध हुई मस्ती का आश्रय लेकर उस मस्ती के चमत्कारमय आस्वाद से ही प्रेरित होते हुए जगदम्बा पराशक्ति की इस प्रकार से स्तुति कर रहे हैं और ऐसा करते हुए वे सर्वोत्कर्ष का आश्रय ले रहे हैं। फिर आगे पूज्यपाद जी अपना लौकिक परिचय देते हुए कह रहे हैं—कि वे महान् महिमा से अलंकृत हैं, उनका लौकिक नाम अमृतवाग्भव है और वे एक ऐसे तत्त्वदर्शी ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, जिनकी परिपक्व बुद्धि सद-

सद्विवेक करने में प्रवीण है।

फिर इस श्लोक के द्वारा निम्नलिखित बातें भी स्पष्टतया अभिव्यक्त हो रही हैं –

१. महार्थमणिमेखलाम्=प्रकाशरूप शिव ही महान् अर्थ है अर्थात् सर्वोपरि स्थित परमतत्त्व है। वह शुद्ध चित्-प्रकाश है। विमर्शरूपिणी शक्ति उस प्रकाश के भीतर इस तरह से अनुस्यूत होकर विद्यमान है कि मानो वह प्रकाशरूप शिव उस विमर्शरूपिणी शक्ति की एक रत्नमयी मेखला (तागड़ी) के रूप में ठहरा हो। कामेश्वर शिव की गोद में ठहरी हुई ललिता देवी का वर्णन भी इस दर्शन सिद्धान्त का काव्यात्मक वर्णन है।

२. मदनसूदनानन्दिनीम्=प्रकाशरूप शिव के भीतर स्पन्दरूपतया विराजमाना विमर्शात्मिका शक्ति ही उसकी आनन्दरूपता का बीज भी है और केन्द्र भी है। तो शिव को आनन्दमय बनाने वाली उसकी शक्ति ही है।

३. पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय महान् अनुभव के हो जाने से महती महिमा से अलंकृत तो हैं ही। अतः पहले ही वे सर्वोत्कर्ष की स्थिति में हैं। परन्तु वैसे होते हुए भी पराशक्ति को इस प्रकार से स्तुति करते हुए और भी अधिक महिमा के पात्र बनते हुए अधिकाधिक सर्वोत्कर्ष को पा रहे हैं।

अन्तिम अनुष्टुभ श्लोक के द्वारा स्तोत्र के निर्माणकाल के प्रति निर्देश करते हुए ऐसे कहा गया है—

राधाधिपमिते वर्षे श्रीशिवरात्रिपर्वणि ।
स्तुतिमेतां विनिरमादाचार्योऽमृतवाग्भवः ॥९॥

जैमिनीय सूत्र के गणित के अनुसार राधाधिप इन चार अक्षरों से १९९२ इस संख्या का बोध होता है । तो वि० सं० १९९२ में शिवरात्रि पर्व के दिन आचार्य अमृतवाग्भव जी ने इस स्तोत्र का निर्माण किया ।

रविनीरमिते वर्षे वैक्रमे मासि चाश्विने ।
टीकामेतां विनिरमाद् बलजिन्नाथपण्डितः ॥

वि० सं० २०४२ में अश्विन के महीने में इस टीका का निर्माण बलजिन्नाथ पण्डित ने किया ।

———

आचार्य श्रीअमृतवाग्भव जी कृत ग्रन्थों की सूची

(क) दर्शनशास्त्र ग्रन्थ :–

१) श्री आत्मविलास – सुन्दरी नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित अध्यात्मविद्या का एक अत्युत्तम शास्त्र। २५)

२) श्री विंशतिका शास्त्रम् – दो संस्कृत टीकाओं और एक हिन्दी व्याख्या समेत। अध्यात्मविद्या के गूढ रहस्यों का प्रकाशक। १०)

३) सिद्धमहारहस्यम हिन्दी टीका समेत। दर्शनसिद्धान्तों, योग साधनाओं तथा योगज अनुभूतियों का सुन्दर वर्णन। १०)

४) महानुभ शक्तिस्तवः—संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। जगदम्बा के पांच अन्तरङ्ग स्वरूपों के रहस्य का प्रकाशक। दो संस्करण ८)

५) वस्तु स्थिति प्रकाश — हिन्दी में लिखे गए दार्शनिक लेखों का एक अत्युत्तम संग्रह। (परम शिवस्तोत्रम् के साथ प्रकाशित)

(ख) स्तोत्र ग्रन्थ :—

६) परमशिवस्तोत्रम् – हिन्दी टीका सहित। ३६ तत्त्वों के रूप में भगवान शिव की वर्णनात्मक स्तुति। १३)

७) परशुरामस्तोत्रम् —हिन्दी अनुवाद और प्रयोगविधि सहित।

८) महामन्त्रमयी परशिवप्रार्थना—हिन्दी अनुवाद आदि सहित।

९) मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्—हिन्दी अनुवाद सहित। एक अतीव सुन्दर तथा दर्शनसिद्धान्त प्रकाशक अद्भुत देवी स्तोत्र। ५)

१०) त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम्—मूल मात्र।

११) अमृतस्तोत्र संग्रहः— हिन्दी अनुवाद सहित। अनेकों देवताओं की अतीव सुन्दर स्तुतिया। ५)

१२) श्री देव्याः स्तोत्रम – मूलमात्र। जय पुर से 'दर्शनस्मारिका' में प्रकाशित।

(ग) राष्ट्रवाद सम्बन्धी ग्रन्थ :-

१३) श्री राष्ट्रालोकः। हिन्दी अनुवाद सहित। राष्ट्रवाद का एक अदभुत ग्रन्थ। २)

१४) संक्रान्ति-पञ्चदशी—हिन्दी गद्य-पद्य-अनुवाद सहित। जगत् कल्याण कारिणी, आर्योचित क्रान्ति का अतीव सुन्दर काव्यात्मक वर्णन।

(घ) धर्मशास्त्र ग्रन्थ :-

१५) सप्तपदी-हृदयम्—संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद सहित। हिन्दु विवाह की सप्तपदी नामक विधि के रहस्य का प्रकाशक काव्यात्मक शैली में निर्मित ग्रन्थ। २॥)

(ङ) काव्य-ग्रन्थ :-

१६) अमृतसूक्ति-पंचाशिका – संस्कृत व्याख्या सहित। सामयिक विविध विषयों पर रचे सुन्दर मुक्तक। १०)

१७) सञ्जीवनी दर्शनम्—हिन्दी अनुवाद सहित। कुलू देश के प्राकृतिक सौन्दर्य का तथा एक दिव्य अनुभूति में महामृत्युञ्जय महामन्त्र की प्राप्ति का वर्णन। ३)

१८) देशिक-दर्शनम् – हिन्दी अनुवाद सहित। गुरुवर महामुनि श्री दुर्वासाः का वर्णन। ऊपरोक्त 'सिद्धमहारहस्यम्' के साथ प्रकाशित)।

सभी ग्रन्थों के मिलने का पता :—

१) श्रीरत्नलाल जैन, आवास A–1, दिल्ली होईकोर्ट, शेरशाह-सूरी रोड, नई दिल्ली—3

२) श्रीदुर्गादत्त शर्मा A–72, अमृतपथ, जनता, कोलोनी जयपुर—302004।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	९	मशन	मर्शन
१२	१२	पण	पर्ण
१२	१९	मशन	मर्शन
१६	६	बना	बनी
१६	२०	का	की
१६	२०	ओर	और
१९	१७	सृष्टि	सृष्टि, स्थिति
२०	२४	कभ	कम
२१	१४	राक्त	रोक्त
२२	१८	बस	वह
६३	६	भी शिव	शिव भी
२७	१०	का	को
२८	५	अह	अहं
२८	१४	हा	ही
३०	१०	भ्यस	भ्यास
३५	१७	पना	पनी
३७	१२	मश	मर्श
३९	१४	घार	घोर
४०	१२	को	की
४१	१९	याग	योग
४३	१२	बणन	वर्णन
४६	१२	सद	सदा
४७	७	का	की
४९	१२	त्त्व	तत्त्व
५३	८	मकोड़	मकोड़े
,,	१२	अह	अहं
५५	२	राक्त	रोक्त
५९	२२	वण	वर्ण
६०	६	करता	करती
,,	८	कते	करने
६३	२	विमश	विमर्श
,,	४	,,	,,